Chapter-1

अध्याय : 1 :: विषय-प्रवेश ::

:: अध्याय : 1 ::

:: विषय-प्रवेश ::

प्रत्येक युग ने अपने समय की समस्याओं के उपयुक्त आकलन के लिए साहित्य या कला के किसी रूप-विशेष को अन्वेषित किया है । उपन्यास भी इसी प्रकार के अन्वेषण का परिणाम है । योरोपीय देशों में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जब नये समाज का निर्माण हुआ , तो उसमें अनेक जटिलताओं का निर्माण हुआ । समाज के इस स्थैतिक गठन को रूपायित करने में उपन्यास एक सशक्त संवाहक के रूप में आया । यह एक नया कला-रूप था , अतः उसका कोई निश्चित स्वरूप भी नहीं था ।

उसमें अनेक कला-रूप अंतःग्रन्थित से मिलते हैं । निबंध , कहानी, काव्य , नाटक , रिपोर्ताज , इतिहास , दर्शन , जीवनी प्रभृति सभी का सन्निवेश इसमें करवाया जा सकता है । वह इस नये युग के नये तेवर या कलेवर का नया काव्य-रूप है । उसमें एक व्यक्ति , अनेक व्यक्तियों की , एक पीढ़ी तथा अनेक पीढ़ियों की , एक घण्टा , एक दिन , एक वर्ष या अनेक वर्षों की , अनेक युगों की कहानी रह सकती है । संभावनाओं के इस वैविध्य के कारण उसका रूपबन्ध भी अत्यन्त लचीला है ,[1] और इसमें निरंतर नये-नये प्रयोग हो रहे हैं । अपने समय के यथार्थ के समग्राकलन के आग्रह के कारण तथा अपने पाठकों को सविशेष संमोहित करने हेतु प्रत्येक औपन्यासिक उसके पूर्व-निर्धारित रूप को किंचित झकझोरते हुए उसे एक नया रूपबन्ध देने का यथेष्ट प्रयत्न करता है ।[2]

उपन्यास शब्द "उप + न्यास " से व्युत्पन्न हुआ है । "उप" अर्थात् समीप और "न्यास" अर्थात् रखना । तात्पर्य यह कि उपन्यास हमें किसीके समीप रख देता है । अब प्रश्न यह होता है कि उपन्यास हमें किसके समीपस्थ कर देता है ? उत्तर है — व्यक्ति या समाज के जीवन के । उपन्यास में वैयक्तिक या सामाजिक जीवन की पर्त-दर-पर्त मिल सकती है , और संभवतः इसीलिए किसी देश या प्रदेश के , किसी युग-विशेष को समझने के

लिए उपन्यास से अधिक कारगत कोई दूसरा साहित्य-रूप नहीं ⊠ हो सकता । उत्तर-प्रदेश और बिहार को उसकी समग्रता में समझने-जानने के लिए प्रेमचन्द, अमृतलाल नागर , नागार्जुन तथा रेणु के पास जाना पड़ेगा । उत्तर-गुजरात के गांवों का उत्तम-चितेरा पन्नालाल पटेल के अतिरिक्त और कौन हो सकता है । सौराष्ट्र को हम जितना झवेरचन्द मेघाणी के माध्यम से जान सकते हैं , उतना यात्रा से भी नहीं , क्योंकि यात्रा की समय और स्थल की अपनी सीमाएं हैं । बाल्ज़ाक के उपन्यासों पर सकारात्मक टिप्पणी करते हुए कार्ल मार्क्स ने कहा था कि फ्रान्स को उसके यथातथ्य रूप में जितना मैं बाल्ज़ाक के उपन्यासों द्वारा जान पाया हूं , उतना वहां के तमाम इतिहासविद , समाजशास्त्री , दार्शनिक आदि के ग्रन्थों से भी नहीं जान पाया ।[3]

:: उपन्यास और यथार्थधर्मिता ::

~~xxxx~~ यथार्थधर्मिता उपन्यास का प्राण-तत्त्व है । आदर्शवादी उपन्यासों में भी औपन्यासिक द्वारा अन्वेषित आदर्श तक की यात्रा में यथार्थ-निरूपण ही साथ देता है । अतः औपन्यासिक का समाज-निरीक्षण एवं परीक्षण वैज्ञानिक की कोटि का होता है । जीवन में जो जितना ही गहरा जाता है , वह उतना ही सफल उपन्यासकार हो सकता है । जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव के बिना उपन्यास का लेखन बिना नमक के पकवान जैसा है । उपन्यास की जितनी ही परिभाषाएं मिलती हैं , उन सबमें उपन्यास के व्यावर्तक लक्षण के रूप में उसकी यथार्थता को सभी आलोचकों ने एक या दूसरे रूप में अंगीकृत किया है । यथार्थ का आकलन उपन्यास-लेखन की प्रथम शर्त है । यथार्थ के विन्यास पर ही आदर्श के फूल-फल विकसित होते हैं । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी उपन्यास के सम्बन्ध में तो यही कहा है कि उपन्यास में दुनिया जैसी है , वैसी ही चित्रित करने का प्रयास ⊠ रहता है ।[4] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने उपन्यास को आधुनिक युग का महाकाव्य[5] इसी अर्थ में कहा है कि जिस प्रकार महाकाव्य में अपने युग का एक समग्र चित्र उपस्थित होता है , उसी प्रकार आधुनिक काल में किसी युग-विशेष या समय-विशेष का समग्र व यथार्थ

आकलन उपन्यास में उपलब्ध होता है । बाबू श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है । यहां यह तथ्य ध्यातव्य है कि कथा काल्पनिक है , परन्तु उसमें व्यक्त जीवन वास्तविक है । उपन्यासकार यथार्थ चरित्रों व घटनाओं का एडिटिंग अपनी दृष्टि से करता है । और यह यथार्थोद्घाटक दृष्टि ही उसे कला के चरम शिखर पर विराजित करती है । साहित्यकार नकलची नहीं निर्माता है । " साहित्य में सर्जनात्मक प्रक्रिया , वस्तुओं का तद्वत् चित्रण न होकर संश्लेषणात्मक होती है , वह मात्र उसका वर्णन नहीं करता ~~अपितु~~ चुनाव भी करता है । " 6

यथार्थ से तात्पर्य केवल विरूपता , विकलांगता या कुरूपता नहीं ; प्रत्युत् जीवन की समग्रता से है । इस सम्बन्ध में डा० शिवकुमार मिश्र के निम्नलिखित विचार उल्लेख्य रहेंगे -- " यथार्थवादी साहित्य मनुष्य को निराशावादी और नियतिवादी भी नहीं बनाता । मनुष्य को उसके परिवेश से पूर्णतः परिचित कराता हुआ , वह उसे विरूपता के प्रति सजग करता है , ताकि वह उसके उन्मूलन के लिए सन्नद्ध हो सके । 'समाजवादी यथार्थवाद' का समूचा कृतित्व मनुष्य की उदात्त जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था का प्रमाण है । जीवन में जो कुछ श्रेष्ठ व सुन्दर है , यह सबको मनुष्यता की थाती समझता है और मनुष्य को उसकी उपलब्धि करने को प्रेरित करता है । " 7

अन्यत्र एक स्थान पर उन्होंने ही लिखा है -- " अपने यहां हो , अथवा पश्चिम में , उपन्यास का इतिहास मूलतः यथार्थवादी उपन्यासों का इतिहास अथवा उपन्यास में यथार्थवाद की केन्द्रियता का इतिहास रहा है । एक दृष्टिकोण के रूप में , एक विचार के रूप में अथवा एक ~~कला~~ कला-शैली के रूप में , कहने का मतलब चिंतन और चित्रण , वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति , दोनों स्तरों पर वह यथार्थवा की केन्द्रीयता स्थापित करने-वाला ही नहीं , उसकी सर्वोपरिता करने वाला इतिहास भी रहा है । एक दृष्टिकोण और एक कला-शैली के रूप में यथार्थवाद ने साहित्य की अन्य विधाओं में भी यद्यपि अपनी गहरी छाप छोड़ी है और महत्वपूर्ण उप-लब्धियां की हैं , परन्तु कथा-साहित्य के क्षेत्र में उसकी उपलब्धियां शीर्षस्थ रही हैं , 'यथार्थवाद की विजय' को हम कथा-साहित्य के क्षेत्र में उसकी पूरी

गरिमा के साथ देख सकते हैं । " 8

हिन्दी औपन्यासिक साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ आलोचक डा० कुंवरपालसिंह ने इस सम्बन्ध में लिखा है — " उपन्यास का संबंध वास्तविक जीवन से है । वह महान घटनाओं की खोज नहीं करता , उसका रचना-क्षेत्र तो दैनिक जीवन की साधारण घटनाएं हैं । समसामयिक उपन्यास तो वास्तविक जीवन से इतना घुल-मिल गया है कि वास्तविक जीवन और उपन्यास में अंतर करना कठिन हो गया है । आज उपन्यास में युगबोध की अभिव्यक्ति और यथार्थ की पकड़ पहले से कहीं अधिक तीव्र और गहरी है । वर्तमान जीवन की जटिलताओं और सूक्ष्मता को सही रूप में अभिव्यक्ति देनेवाली यह एक-मात्र विधा है । ***xxx उपन्यास के ऊपर मानव-जीवन की इन्हीं वास्तविक परि-स्थितियों के चित्रण का दायित्व है । उसने गंभीरता से मानवीय संबंधों पर सामाजिक मूल्यों का विवेचन किया है । अपनी नवीन दृष्टि और संवेदनशीलता के कारण वह युग की धड़कनों को स्वर प्रदान करता है । " 9

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के मतानुसार "उपन्यास यथार्थ मानव-अनुभवों एवं सत्य का आकलन है , वह जीवन की एकता में अनेकता तथा अपूर्णता में समग्रता स्थापित करने का प्रयत्न करता है । " 10

वस्तुतः उपन्यास पश्चिम की देन है , अतः कुछ पाश्चात्य विद्वानों के एतद्विषयक विचारों का उल्लेख समीचीन रहेगा —

§1§ " उपन्यास अपनी व्यापकतम परिभाषा में जीवन के वैयक्तिक एवं प्रत्यक्ष प्रभाव का चित्रण है । " 11

§2§ "उपन्यास वह कथाश्रित प्रकथनात्मक गद्य है जिसमें लेखक किसी पात्र की चरित्र-सृष्टि करते समय एक युग-विशेष के जीवन को , उस समय के स्त्री-पुरुषों की भावनाओं , राग-द्वेषों तथा क्रिया-प्रतिक्रियाओं को , उनके अपने साम्प्रतिक परिवेश में विश्लेषित करने का यत्न करता है । "12

§3§ "उपन्यास केवल प्रकथनात्मक गद्य -मात्र नहीं , वह मानव-जीवन का भी गद्य है । उपन्यास वह पहली कला है जिसमें मनुष्य को उसकी सर्वांगीणता में अंकित करते हुए उसकी भावनाओं को समुचित ढंग से प्रस्तुत किया गया । " 13

§4§ " लुकाच ने यथार्थवाद में जिस दूसरी बात पर बहुत अधिक बल दिया है, वह प्रातिनिधिकता § *Representativeness* § की बात है ।, औसत या एवरेज की बात नहीं । उन्होंने यह भी कहा है कि सच्चा और महान यथार्थवाद मनुष्य और समाज के किसी एक या दूसरे पक्षों की नहीं, उन्हें एक परिपूर्ण इयत्ता में चित्रित करता है । वह क्षणिक प्रकार की मनः स्थितियों के § और इस प्रकार की ~~xxx~~ मनःस्थितियों को ही प्रमुखता देने वाला एक सम्प्रदाय भी मौजूद है § प्रभाव में मनुष्य तथा स्थितियों की समग्रता को क्षत-विक्षत किये जाने का सख्त विरोधी है । "[14]

उपर्युक्त सभी विद्वानों के अभिमतों से इतना तो असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि यथार्थधर्मिता को हम उपन्यास के एक व्यावर्तक लक्षण के रूप में विश्लेषित कर सकते हैं । इसका अर्थ यह कतई नहीं कि कि साहित्य की इतर विधाओं में यथार्थ का निरूपण नहीं होता । यद्यपि यथार्थ तो कला-मात्र की एक मुख्य आधारशीला है ।, तथापि उपन्यास में वह एक अनिवार्य शर्त के रूप में विद्यमान है । डा० देवीशंकर अवस्थी द्वारा संपादित "विवेक के रंग" नामक आलोचनात्मक ग्रंथ में समकालीन हिन्दी साहित्य की अनेक विधाओं के नाना आयामों पर विचार-विमर्श हुआ है । उसमें जहां हिन्दी के इधर के उपन्यासों की चर्चा है, उस विभाग को "यथार्थ से पहचान" नामक शीर्षक से अभिहित किया गया है । जो उपन्यास के उपर्युक्त लक्षण की ओर स्पष्ट निर्देश करता है ।

:: उपन्यास और समाज ::

समाज और साहित्य परस्परावलंबित है, यह तथ्य उपन्यास पर पूरी तरह से काबिज होता है । उपन्यास का जन्म ही समाज की जटिल संरचना के रूपायन हेतु हुआ है ।; अतः समाज, समाज के लोग, उनके प्रश्न-प्रश्न इन सबसे जूझना ही उसका कार्य है । अब यह पूर्णतः स्थापित हो चुका है कि पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी कृत "भाग्यवती" §सन् 1878§ हिन्दी का प्रथम उपन्यास है[15], जो तत्कालीन समाज-जीवन की एक ज्वलंत समस्या को लेकर लिखा गया है । तत्कालीन सम्भ्रान्त समाज में बालिकाओं को केवल "स्त्री-

सुबोधिनी" तक की शिक्षा दी जाती थी , ताकि वह अपने "पति-परमेश्वर" को "आपके चरणों की दासी " या " भव-भव की दासी " नुमा चिट्ठी-पत्री लिख सके । परंतु हिन्दी के पुनर्जागरण काल में ब्रह्मोसमाज , प्रार्थना-समाज , आर्य-समाज प्रभृति नव्य सुधारावादी आंदोलनों ने स्त्री-शिक्षा के पहलू पर सविशेष ध्यान दिया ; तथापि सनातन-पंथियों की एक समानांतर धारा तब भी विद्यमान थी , जो स्त्री-शिक्षा की घोर-विरोधी थी । मेहता लज्जाराम-शर्मा कृत उपन्यास "स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी" में इसी पुरातन विचार-धारा को प्रश्रय मिला है , जिसमें आधुनिक शिक्षा-प्राप्त रमा अपने स्वतंत्र वा स्व-च्छंद [लेखक के मतानुसार] व्यवहार के कारण बुरी तरह असफल रहती है ; दूसरी तरफ अशिक्षिता लक्ष्मी अपने विनीत-सुशील-सुघ्र मंजुल स्वभाव के कारण सुखी-संपन्न दाम्पत्य-जीवन भोगते हुए घर-परिवार को भी सुख-संपन्नता प्रदान करती है ।

यहाँ उक्त दो उपन्यासों का उल्लेख साभिप्राय हुआ है । इन दोनों उपन्यासों में तत्कालीन समाज की विचारधाराओं को भलीभाँति अभि-व्यक्त किया गया है । हिन्दी उपन्यास की विकास-यात्रा के इस दौर में "उपन्यासः प्रसादनम् " [16]का महत्व भी अपरिहार्य था । लोगों के पास पर्याप्त समय था और वार्ता-विनोद के लिए काफी गुंजाइश थी । फलतः इस दौर में बाबू गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यास और बाबू देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी उपन्यासों की बड़ी धूम रही । हिन्दी के कुछ पाठकों के हिसाब से "चन्द्रकान्ता और चन्द्रकान्तासंतति " आज भी एक पठनीय औप-न्यासिक कृति ठहरती है और राजकमल प्रकाशन दिल्ली से अभी कुछ वर्ष पूर्व उसका पुनः प्रकाशन भी हुआ है । बाबू गोपालराम गहमरी ने "जासूस" नामक पत्रिका निकाली थी , जिसमें जासूसी कहानियों के अतिरिक्त उनके जासूसी उपन्यास भी धारावाहिक रूप में प्रकाशित होते थे । उन्होंने लगभग सौ-डेढ़-सौ जासूसी उपन्यास दिए हैं । आज भी बहुत से पाठकों के लिए उपन्यास की संज्ञा केवल समय व्यतीत करने के एक साधन तक ही महदूद है । उक्त दोनों उपन्यासकारों से हिन्दी-उपन्यास को लाभ व हानि दोनों हुए हैं । हिन्दी उपन्यास को अभूतपूर्व लोकप्रियता मिली यह लाभ ; तो पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी लाला श्रीनिवासदास , पंडित बालकृष्ण भट्ट , मन्नन द्विवेदी , प्रभृति अनेक-

औपन्यासिकों द्वारा प्रबोधित-पथ से पथभ्रष्ट हो गया यह हानि भी हुई।

उपन्यास केवल "प्रसादनम् " नहीं है। इसका और कोई ऊंचा महत् उद्देश्य भी है। कहा भी गया है — " नोवेल इज़ नोट मियरली ए स्टोरी, इट इज़ बियोन्ड द स्टोरी." [17] जहाँ उपन्यास "प्रसादनम् " कहा गया था, वहाँ यह भी कहा गया था कि "उपपत्तिकृतो ह्यर्थः उपन्यासः " अर्थात् किसी बात को युक्तिपूर्वक रखना और उपन्यास में यही उपक्रम रहता है। उपन्यास के उक्त द्वितीय उद्देश्य को लेकर ही प्रेमचन्दजी हिन्दी में आते हैं। बाबू गोपालराम गहमरी और देवकीनन्दन खत्री के कारण हिन्दी-उपन्यास जो थोड़े समय के लिए गुमराह हो गया था, उसे पुनः उसके सही वास्तविक पथ पर पुनर्स्थापित करने का महत्-कार्य प्रेमचन्दजी द्वारा संपन्न होता है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में प्रेमचन्द का महत्त्व इसमें है कि उन्होंने हजारों-लाखों "चन्द्रकान्ता और तिलस्मेहोशरूबा" के पाठकों को "सेवासदन" का पाठक बनाया। [18]

डा० गणेशन के मतानुसार प्रेमचन्द में हमें सर्व-प्रथम मानव-चरित्र की पहचान मिलती है। [19] तत्कालीन सामाजिक सरोकारों व ब्यौरों का इतना विस्तृत विवेचन पहले कभी उपलब्ध नहीं हुआ। प्रेमचन्द ने उपन्यास को पुनः समाज से सुग्रथित किया। तत्कालीन समाज की जितनी गहरी अभिज्ञता, प्रेमचन्द में है, उतनी उनके किसी समकालीन में नहीं, क्योंकि मानवीय-संस्पर्श, मानवीय-संवेदना और समभाव की दृष्टि से आज भी वे "एकोमेव" हैं।

ऊपर निर्देशित द्वितीय महती कार्य के कारण उपन्यास में "विचार और उद्देश्य " या "जीवन-दर्शन" नामक तत्त्व का महत्त्व बढ़ जाता है। यह तत्त्व ही श्रेष्ठ उच्चस्तरीय उपन्यासों को दूसरे सामान्य प्रकार के उपन्यासों से अलगाता है। प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल प्रभृति औपन्यासिकों की अपनी-अपनी एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि है; जिसके रहते उनके उपन्यासों में आद्यन्त एक विशिष्ट प्रकार का जीवन-दर्शन उपलब्ध होता है, जो उन्हें समाज की मूलभूत समस्याओं से गहराई से जोड़ता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस तत्त्व से रहित उपन्यासों को घासलेटी उपन्यासों की संज्ञा दी है, [20] वह सर्वथा उपयुक्त ही है। एक आंग्ल-विवेचक ने इस संबंध में

कहा है -- " फ्रोम एवरी सेन्टेन्स , पेरेग्राफ एण्ड चेप्टर , द वेल-रीटन नोवेल इकोज़ एण्ड रीइकोज़ , इट्स वन बट कोन्ट्रोलिंग थोट ,. "21 अर्थात् एक श्रेष्ठ उपन्यास के प्रत्येक वाक्य , परिच्छेद वा प्रकरण से उसके कर्ता के विचारों की गूंज-अनुगूंज सुनाई पड़ती है । इस कारण से ही हम किसी प्रदेश की भाषा के किसी विशेष औपन्यासिक से किसी काल-खण्ड विशेष की सामाजिक समस्याओं को भलीभांति जान सकते हैं । उस काल-खण्ड के वैयक्तिक व सामाजिक जीवन को कुछ अधिक गहराई से जान-समझ पाते हैं । संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपन्यास का समाज के साथ बड़ा गहरा सरोकार है और किसी काल-खण्ड विशेष के समाज की सच्ची पहचान हमें उस काल-विशेष को लेकर लिखें गए अच्छे उपन्यासों से उपलब्ध होती है ।

:: समस्यामूलक उपन्यास और उसकी परंपरा ::

उपन्यास का उद्देश्य एक विशिष्ट सामाजिक-दर्शन के तहत यथार्थ का आकलन है , अतः उसमें कोई-न-कोई सामाजिक ,वैयक्तिक वा मनोवैज्ञानिक समस्या का निरूपण अवश्यमेव रहता है । तथापि जहां कुछ उपन्यासों में यह "समस्या-निरूपण" प्रच्छन्न रूप में रहता है , वहां कहीं-कहीं वह प्रत्यक्ष-रूप में दृष्टिगोचर होता है । ऐसे उपन्यासों को हम समस्यामूलक उपन्यास कह सकते हैं और चूंकि उपन्यास का जन्म ही समाज की जटिल समस्याओं के निरूपण - हेतु हुआ है , ऐसे उपन्यासों की परंपरा उसके उद्भव काल से ही मिलती है । हिन्दी में भी प्रेमचन्द-पूर्व काल में पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी , लाला श्रीनिवासदास , बालकृष्ण भट्ट , अयोध्यासिंह उपाध्याय , मेहता लज्जाराम शर्मा , किशोरीलाल गोस्वामी , राधाचरण गोस्वामी के क्रमशः "भाग्यवती", "परीक्षागुरु " , "सौ अजान एक सुजान " , "अधखिला फूल" ,"स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी " , "लवंगी " , "असहाय हिन्दू " प्रभृति उपन्यासों में समाज की तत्कालीन समस्याओं का निरूपण उनके लेखकों की विशिष्ट जीवन-दृष्टि के अनुसार हुआ है । इस दृष्टि से मन्नन द्विवेदी का उल्लेख भी यहां अनिवार्य हो जाता है ,जिनके सामाजिक उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं की सूक्ष्म पकड़ देखी जा सकती है , जो बाद में प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द-स्कूल के उपन्यास-

कारों में सविशेष दृष्टिगत हुई है ।

:: प्रेमचन्दजी के समस्यामूलक उपन्यास ::

प्रेमचन्द का समूचा लेखन सामाजिक सोद्देश्यता को लेकर है । सामाजिक समस्याओं की पकड़ और उन्हें उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखनेवाली आंख जो प्रेमचन्द के पास है, अन्यत्र दुर्लभ है । शायद इसलिए निराला ने कहा था —आंखि कौनो के पास आंय तो याहि के पास आयं । "[22]

इस संदर्भ में डा० पारूकांत देसाई के इस अभिमत से हम पूर्णतया सहमत हैं कि " समस्याओं की जितनी सूक्ष्म पकड़ प्रेमचन्दजी को है, उतनी किसी समाजशास्त्री को भी नहीं हो सकती । उनके उपन्यासों द्वारा हम समाज की नब्ज़ को भलीभांति पकड़ सकते हैं । अपने जमाने की ऐसी कोई समस्या न होगी जो प्रेमचन्द की सूक्ष्म दृष्टि से अलिप्त रही हो । "[23]

सामाजिक समस्याओं के निरूपण के सन्दर्भ में प्रेमचन्दजी का प्रथम उपन्यास "सेवासदन" एक उल्लेख्य औपन्यासिक-रचना है, जिसमें प्रेमचन्दजी की चौमुखी सामाजिक दृष्टिका सर्वप्रथम परिचय होता है । डा० रामदरश मिश्र के शब्दों में " "सेवासदन" उपन्यास कला और समस्याओं की पकड़ तथा चित्रण दोनों दृष्टियों से पहला परिपक्व उपन्यास है । "[24]

प्रेमचन्दजी की दृष्टि प्रारम्भ से ही समाजोन्मुखी रही है । उनकी पैनी दृष्टि ने भांप लिया था कि व्यक्ति की अच्छाई-बुराई का उत्स समाज और उसकी भली-बुरी रूढ़ियां ही है । समाज की सभी समस्याएं परस्पर सम्बद्ध होती है, जैसे हम रिश्वत की आलोचना करते हैं, पर रिश्वत का मूल क्या है ? "सेवासदन" की सुमन के पिता कृष्णचन्द्र को रिश्वत क्यों लेनी पड़ी ? दहेज के लिए । सुमन जैसी योग्य, सुशिक्षिता, सुन्दर व सुशील कन्या का विवाह भी बिना दहेज के नहीं हो सकता । इस दहेज-प्रथा के मूल में है जाति-प्रथा । बेचारे कृष्णचन्द्र सुमन के दहेज के लिए रिश्वत लेते हैं, परन्तु अनभ्यस्त होने के कारण पकड़े जाते हैं । उन्हें जेल

हो जाती है और अर्थाभाव में सुमन गजाधर जैसे दुहाज अपात्र के गले मढ़ दी जाती है ।

वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था ने समाज की समूची बुनियाद को ही हिला दिया है । सर्वत्र नगद नारायण की ही पूजा हो रही है । " जब हम देखते हैं कि अशिक्षित , भ्रष्टाचारी , कुसंस्कारी , अर्थपिशाच नरभक्षी , धनवान गुण्डा सरेआम किसी शिक्षित , संस्कारी , चरित्रवान व्यक्ति की पगड़ी उछाल सकता है या किसी की भी जीवन-डोरी को कभी भी कटवा सकता है, तो हमारी नज़र में चरित्र का क्या मूल्य रह जायगा ? " [25]

सुमन के वेश्या होने का भी यही कारण है । शौकीन तबियत होने के बावजूद सुमन अपने संस्कारों पर दृढ़ है , क्योंकि वह सोचती है कि दीन-दरिद्र होते हुए भी उसकी मान-मर्यादा के सामने भोली तुच्छ है ; परंतु रामनवमी के जन्मोत्सव वाले प्रसंग के बाद सुमन की आँखें खुल जाती है , जब वह देखती है कि " भोली के सामने केवल धन ही सिर नहीं झुकाता , धर्म भी उसका कृपाकांक्षी है । " [26] होली वाले दिन पद्मसिंह के यहां भोली का जो मुजरा होता है , उससे सुमन का रहा-सहा विश्वास भी धराशायी हो जाता है — " आज तक मैं समझती थी कि कुचरित्र लोग ही इन रमणियों पर जान देते हैं , किन्तु आज मालूम हुआ कि उनकी पहुंच सुचरित्र और सदाचारशील पुरुषों में भी कम नहीं है । " [27]

इस प्रकार हम देखते हैं कि xxx धन द्वारा प्राप्त सुख नहीं , अपितु धन द्वारा प्राप्त सम्मान व प्रतिष्ठा व्यक्ति को पतनोन्मुख करती है । उसके कारण पुरुष अप्रामाणिक , घुसखोर , चोर व मक्कार बनता है ; तो स्त्री वेश्या बनती है । वेश्या-समाज का निर्माण ऐसे ही होता है । इसी उपन्यास में कुंवर अनिरुद्धसिंह के शब्दों में मानो प्रेमचन्द ही कह रहे हैं — " हमारे शिक्षित भाइयों की ही बदौलत दालमण्डी आबाद है , चौक में चहल-पहल है , चकलों में रौनक है , यह मीनाबाज़ार हम लोगों ने ही सजाया है । ये चिड़ियां हम लोगों ने ही फांसी हैं । ये कठपुतलियां हमने ही बनाई हैं । जिस समाज में अत्याचारी जमींदार , रिश्वती राज्य-कर्मचारी , अन्यायी महाजन , स्वार्थी बन्धु आदर व सम्मान के पात्र हों ,

वहाँ दालमण्डी क्यों न आबाद हो ? हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहाँ जा सकता है । जिस दिन नज़राना , रिश्वत और सूद-दर-सूद का अंत होगा , उसी दिन दालमण्डी उजड़ जायेगी । " 28

इसी उपन्यास में प्रेमचन्दजी ने भारतीयों की गुलाम मनोदशा तथा हिन्दू-मुस्लीम विद्वेष जैसी समस्याओं को भी उठाया है । उपन्यास का एक पात्र विट्ठलदास भारतीयों की गुलाम मानसिकता पर चिकोटी काटते हुए कहता है — " आज की अंग्रेजी शिक्षा ने आपको ऐसा पददलित किया है कि जब तक यूरोप का कोई विद्वान किसी विषय के गुण-दोष न प्रकट करे , तब तक आप उस विषय की ओर से उदासीन रहते हैं । आप उपनिषदों का आदर इसलिए नहीं करते कि वह स्वयं आदरणीय है । बल्कि इसलिए करते हैं कि ब्लावेट्स्की और मेक्समूलर ने उनका आदर किया है । आप में अपनी बुद्धि से काम लेने की शक्ति का लोप हो गया है । अभी तक आप तांत्रिक विद्या की बात भी न पूछते थे । अब जो योरोपीय विद्वानों ने उसका रहस्य खोलना शुरू किया तो आपको अब तंत्रों में गुण दिखाई देते हैं । यह मानसिक गुलामी उस भौतिक गुलामी से कहीं गयी-गुजरी है । आप उपनिषदों को अंग्रेजी में पढ़ते हैं , गीता को जर्मन में । अर्जुन को अर्जुना , कृष्ण को कृष्णा , और इस प्रकार अपने स्वभाषा-ज्ञान का परिचय देते हैं । " 29

हिन्दू-मुस्लीम वैमनस्य की समस्या का बीजवपन भी हमें " सेवासदन " में दृष्टिगोचर होता है । उपन्यास का एक पात्र अबुलवफा कहता है — " आलीजाजा , मुझे रात को आफताब का यकीन हो सकता है , पर हिन्दुओं की नेक-नीयत पर यकीन नहीं हो सकता । " 30

इस प्रकार इस उपन्यास में उपर्युक्त समस्याओं के अतिरिक्त मध्यवर्गीय झूठी शान , तत्कालीन हिन्दी साहित्य की दरिद्रता , खोखले धर्माधिकारी व महन्त , भ्रष्टाचारी नेता जैसी अनेकानेक समस्याओं को भी पूर्ण दक्षता के साथ उकेरा है । यहाँ "सेवासदन " को विशेष रूप से इसलिए लिया गया है कि वह हिन्दी में प्रकाशित प्रेमचन्द का प्रथम उपन्यास है , जिससे आगे के समस्यामूलक उपन्यासों का पथ प्रशस्त हुआ है ।

"सेवासदन " के पश्चात् "प्रेमाश्रम" §1920§ , "रंगभूमि" §1925§ , "कायाकल्प " §1926§ , " कर्मभूमि" §1932§ , "गोदान" §1936§ " मंगलसूत्र " § अपूर्ण , 1936§ प्रभृति उपन्यासों में प्रेमचन्दजी ने विस्तृत फलक पर तत्कालीन भारतीय समाज की नाना समस्याओं का निरूपण किया है ; तो "निर्मला " §1926§ , "प्रतिज्ञा" §1929§ और "गबन" जैसे लघु-उपन्यासों में समाज में व्याप्त किसी एक विशेष समस्या को लेकर उसे रेखांकित करने का प्रयास किया है । वस्तुतः "प्रतिज्ञा" और "गबन" तो उनके पहले उर्दू में प्रकाशित " प्रेमा " तथा "किशना " §1907§ के परि-वर्द्धित एवं परिमार्जित रूप हैं ।

"प्रेमाश्रम " किसानों एवं जमींदारों के पारस्परिक संबंध एवं संघर्ष को कलात्मक ढंग से उकेरने वाला एक बहुकथाआयामी उपन्यास है । प्रेम-चन्द के "सेवासदन" परवर्ती उपन्यासों के बीज हमें "सेवासदन " में ही मिल जाते हैं । प्रस्तुत उपन्यास के मनोहर और बलराज "सेवासदन" के चेतू के ही विकसित रूप हैं जो जमींदारों , महाजनों तथा अमलों के जुल्म एवं अन्याय का विरोध करते हैं । डा० एस.एन. गणेशन के शब्दों में --- " भारत की सामान्य जनता का जागरण और अपने हक के लिए लड़ाई भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का एक प्रमुख अंग है । और इस जागरण पर लिखित प्रथम श्रेष्ठ उप-न्यास के रूप में " प्रेमाश्रम " महत्त्वपूर्ण रचना है । " [31] इस बृहदाकार उप-न्यास में सहस्त्राधिक वर्षों से पददलित कृषक-समाज , उसकी अज्ञानता , भीरुता , जमींदार और उनके कारिन्दों के अत्याचार को प्रेमचन्दजी की सशक्त लेखनी ने इस प्रकार उजागर किया है कि ग्रामीण-जीवन की सभी समस्याएं स्वतः स्पष्ट हो गई हैं । उपन्यास का उत्तरार्द्ध प्रेमचन्दजी की तत्कालीन आदर्शवादिता एवं अतिभावुकता का परिणाम है , जिसमें उक्त समस्याओं के समाधान रूप में प्रेमचन्दजी "हाजीपुर " गांव में "प्रेमाश्रम" की स्थापना करवाते हैं ।

" रंगभूमि" भी प्रेमचन्दजी का एक बहुआयामी उपन्यास है , जिसमें उन्होंने सन् 1920 और 1930 के बीच के भारतीय समाज एवं उसकी राजनीतिक व सामाजिक समस्याओं को उद्घाटित किया है । यह वास्तव में सन् `20 और `30 के आंदोलनों के बीच हिन्द-प्रदेश की "रंगभूमि" है , जिसका

संबंध ठेठ हिन्दुस्तानी जनता से है । बहुत पहले प्रेमचन्दजी के जीवन-काल में ही श्री अवध उपाध्याय ने प्रेमचन्द पर साहित्यिक-चोरी का आरोप लगाते हुए "रंगभमि" को थैकरे के "वैनिटी फेयर" की नकल घोषित किया था, जिसका मुंहतोड़ उत्तर भी प्रेमचन्दजी द्वारा दिया गया था ।

प्रेमचन्द ने तब कहा था -- " लेख के भाव, भाषा और शैली से विदित होता है कि किसी स्कूली लड़के ने लिखा है जिसने मेरी कोई रचना पढ़ी ही नहीं । उनसे मेरा आग्रह है कि कृपया एक बार धैर्य रखकर "रंगभमि" पढ़ जाए । जिसने "रंगभूमि" और "वैनिटी"-फेयर" दोनों पढ़ा है, वह कभी ऐसी बेतुकी बातें नहीं लिख सकता । "वैनिटी फेयर" आसमान पर हो, "रंगभूमि" जमीन पर, पर है वह "रंगभूमि" । .... अभी जिन्दा रहा तो बहुत कुछ लिखूंगा और मेरे भावों और विचारों में उच्च कोटि के लेखकों जैसी बहुत-सी बातें आवेंगी । आप जो अच्छी पुस्तक देखेंगे वह मेरी किसी पुस्तक से मिलती-जुलती जान पड़ेगी । कारण यही है कि मैं अपने प्लोट जीवन से लेता हूं, पुस्तकों से नहीं, और जीवन सारे संसार में एक है । " [32]

वस्तुतः "उसे किसी विदेशी कृति की नकल या उससे अनुप्राणित समझना भ्रम है । प्रेमचन्द की पैनी निगाह देख रही थी कि हिन्दुस्तान की जनता लड़ रही है -- बिना किसी पार्टी की मदद के, बिना किसी राजनीतिक नेता की सलाह का फायदा उठाए । यह सन् `20 और `30 के बीच का उपन्यास है, जब हिन्दुस्तान में बड़े-बड़े नेताओं की तरफ से राष्ट्रीय आंदोलन का संचालन न हो रहा था, जब अंग्रेज कहते थे कि देश में शांति है । तब भी सूरदास लड़ रहा था और मृत्यु-शय्या से पुकार कर कह रहा था -- " फिर खेलेंगे, ज़रा दम ले लेने दो । " यह भारत की अजय जनता का स्वर था । " [33]

"रंगभूमि" में प्रेमचन्दजी ने औद्योगिकरण की समस्या को भी उठाया है । इस समस्या का यत्किंचित संकेत "सेवासदन" के मदनसिंह के कथन में भी मिलता है ।[34] प्रेमचन्दजी नहीं चाहते थे कि देश का किसान मजदूर हो जाय । अतः सूरदास जानसेवक के सिगरेट के कारखाने का जी-जान से विरोध करता है । वह सच्चा खिलाड़ी है । " यह संसार उसके लिए रंगभूमि

है । रंगभूमि में — खेल में हार-जीत तो लगी रहती है , हारने में विषाद क्या और जीतने में उल्लास क्या ? खेल अपना धर्म है , सच्चाई और ईमानदारी से खेलने वाला अपना कार्य करता चलता है । हार-जीत की चिंता करना उसका कार्य नहीं । अधर्म से खेलकर जीत भी गये तो क्या हो गया और धर्म से खेलकर हार भी गये तो क्या ? खेलने वालों की परम्परा तो लगी रहेगी । कभी-न-कभी तो जीतेंगे ही । " [35]

सूरदास के इन शब्दों में हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के सुर बोल रहे हैं । इसमें जहाँ प्रेमचन्दजी विनयसिंह और सोफिया के प्रेम द्वारा एक प्रगतिशील आयाम प्रस्तुत करते हैं , वहाँ सूरदास एवं उनके परिवेश की पृष्ठभूमि में महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आंदोलन को प्रतीकात्मक ढंग से उभारा है । राजा महेन्द्रसिंह के द्वारा प्रेमचन्दजी ने उस वर्ग की कलई खोल दी है, जो एक तरफ तो लोगों की सेवा का नाटक रचाते हैं और दूसरी तरफ अंग्रेज हाकिमों की चापलूसी द्वारा अपनी सत्ता एवं प्रभाव को सुरक्षित रखने की चिन्ता में रात-दिन व्यस्त रहते हैं ।

"कायाकल्प" प्रेमचन्दजी की विचारधारा से कुछ अलग हटा हुआ-सा जान पड़ता है । रानी देवप्रिया और उसके पति के पूर्व-जन्मों का वृतान्त किसी तिलस्मी कहानी की याद दिलाता है । परन्तु ऐसे नितान्त वायवी उपन्यास में भी प्रेमचन्दजी ने उस समय की — और आज की भी — एक ज्वलंत समस्या — हिन्दू-मुस्लीम वैमनस्य की समस्या को — को स्थापित करते हुए चित्रित किया है कि कैसे हिन्दू और मुसलमान दोनों अपने सामाजिक और राष्ट्रीय — व्यापक हितों को पीछे धकेलकर अंग्रेजों की कूटनीति के परिणामस्वरूप एक-दूसरे के खून के प्यासे हो रहे हैं । उपन्यास के वायवी और तिलस्मी स्वरूप के सम्बन्ध में डा० गणेशन लिखते हैं — " शायद भारत के हिन्दू समाज में रूढ़ मूल अंधविश्वासों और मूढ़ परम्पराओं को दिखाना ही प्रेमचन्द का ध्येय रहा हो । " [36]

"रंगभूमि" की भांति "कर्मभूमि" भी प्रेमचन्दजी की एक प्रौढ़-कालीन रचना है । इसका कथानक भी तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों के तानों-बानों से बुना गया है । अछूतोद्धार , जमींदार-किसान

संघर्ष , सूदखोरी आदि प्रश्न जुड़ते गये हैं । "प्रेमाश्रम " के प्रेमशंकर की भाँति यहाँ डा० शांतिकुमार का "सेवाश्रम" मिलता है । ग्रामीण लोगों का नेतृत्त्व अमरकान्त लेता है । "रंगभूमि" की भाँति यहां भी लेखक ने आंतरजातीय प्रेम की व्यंजना की है । प्रेमचन्दजी प्रेम-सम्बन्ध को धार्मिक-पाबन्दियों से ऊँची चीज़ समझते थे , इसलिए उन्हें कोई तोड़े तो इसे वे अच्छा मानते थे । इस उपन्यास में उन्होंने मुसलमान लड़की सकीना का हिन्दू लड़के अमरकान्त से प्रेम दिखाया है । एक प्रगतिवादी लेखक अपने कथ्य में प्रगतिवादी-मानवतावादी मूल्यों को कैसे उकेरता है , इसे हम यहाँ रेखांकित कर सकते हैं । डा० गणेशन के शब्दों में — " कथानक तथा पात्रों के जीवन-वृत्तों के साथ-साथ इसमें चित्रित वातावरण भी कम महत्त्व का नहीं है । अत्यन्त विशाल पटभूमि का उपयोग करने के कारण कथानक में तथा पात्रों में जीवनवृत्तों के क्रमिक विकास में थोड़ी-बहुत शिथिलता आयी है , परन्तु इसी कारण से देश के तत्कालीन वातावरण को यथार्थ-रूप में उपस्थित करने में लेखक को विशेष सफलता भी प्राप्त हुई है । " [37]

"गोदान" प्रेमचन्दजी की प्रौढ़तम रचना है । सामाजिक शोषण के खिलाफ़ जो आवाज़ "सेवासदन" से उठी थी , "गोदान" में वह और भी व्यापक फलक को समेटकर अपनी बुलन्दियों पर पहुँच गई है । प्रेमचन्दजी की मृत्यु पर कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था — "एक रत्न मिला था तुमको , तुमने खो दिया । "[38] परन्तु " हिन्दीवालों ने उस रत्न को तो खो दिया , पर उस रत्न की ओर से मिला हुआ "गोदान" रूपी रत्न तो हिन्दी-साहित्य की अमूल्य-निधि है । " [39]

डा० इन्द्रनाथ मदान "गोदान" के बदले हुए स्वर को रेखांकित करते हुए लिखते हैं — " यह उपन्यास केवल होरी का "गोदान " नहीं है , प्रेमचन्द की आस्था का भी "गोदान " है । सदनों , निकेतनों , आश्रमों में लेखक की आस्था का गोदान है । उनका विश्वास सुधारवादी-गांधीवादी समाधान से उठ गया है । .... प्रेमचन्द की संवेदना नया मोड़ लेती है । "[40] परन्तु वस्तुतः यदि देखा जाय तो यह प्रेमचन्द की संवेदना का नया नहीं , प्रत्युत विकसित रूप है । "गोदान" में प्रेमचन्दजी की विकसित होती हुई

यथार्थवादी दृष्टि का चरमोत्कृष्ट रूप मिलता है ।

"एसोसिएशन थियरी" के प्रणेताओं में एक प्रसिद्ध अमरिकन मनोवैज्ञानिक डा० एडवर्ड थोर्नडाइक (Thorndike) हैं । उनके द्वारा प्रस्थापित सिद्धांत — " ट्रायल एण्ड एरर थियरी" (प्रयत्न एवं क्षति का सूत्र) के अनुसार कोई भी व्यक्ति शिक्षा-प्राप्ति के लिए अनेक प्रयत्नों को करता है , जिनमें से कुछ सफल और कुछ असफल रहते हैं । परन्तु व्यक्ति क्रमशः असफल प्रयत्नों की गलतियों को समझता हुआ , उन्हें त्यागकर आगे की ओर अग्रसर होता है । प्रेमचन्द की "सेवासदन" से "गोदान" तक की यात्रा में हम थोर्नडाइक के उपर्युक्त सिद्धान्त को ही चरितार्थ होते हुए देख रहे हैं । इस संबंध में डा० गणेशन का यह मत उल्लेखनीय रहेगा — " अप्रयोगिक आदर्शों , अपरीक्षित सिद्धान्तों तथा अपरीक्षित वादों से अपने आपको सम्बद्ध रखने के कारण उनके पूर्व-लिखित उपन्यासों में विफलताएं या दुर्बलताएं प्रकट हुई थीं । उन सबसे बहुत-कुछ मुक्त होकर वे यहां जीवन-मात्र को व्यंजित करने वाली यथार्थवादी कला के राजपथ से अग्रसर होते हुए दिखते हैं । .... कथा-कथन की कुशलता , चरित्र-चित्रण की सुचारुता , समस्याओं के अध्ययन की सूक्ष्मता आदि प्रेमचन्द के जितने गुण उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रकट हो चुके थे वे इसमें अधिक निखरे हुए रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं । पटभूमि अधिक विस्तृत हो गई है , मनोभावों का विश्लेषण अधिक गहरा हो गया है , जीवन की व्याख्या का दृष्टिकोण अधिक संतुलित हो गया है ; और इस तरह "गोदान" यथार्थवाद की दृष्टि से उनके अन्य उपन्यासों से कोसों दूर आगे बढ़ आया है । "[41]

यथार्थवादी कलाकार शोषणमूलक समाज के हर कोने-कुचुले की खोज-खबर लेता है । हमारे समाज की यह भी एक विचित्रता किंवा विडंबना है कि "नारी" और "किसान" को उसने "जगज्जननी" और "जगततात" के रूप में खूब चगाया है , और फिर इन्हीं दो की दुर्गति में भी कोई कमी-बेशी नहीं बरती गयी । प्रेमचन्दजी ने दोनों को लिया है । "निर्मला" नारी-जीवन की ट्रेजडी है तो "गोदान" कृषक-जीवन की । गोदान में हम देखते हैं कि — " पटवारी , जमींदार के चपरासी , कारिन्दे , थानेदार , कान्स-

टेबल , कानूनगो , तहसीलदार , डिप्टी मेजिस्ट्रेट , कलक्टर , कमिश्नर , दूसरे शब्दों में अंग्रेजों की सारी प्रशासनिक मशीनरी किसान के पीछे पड़ी हुई थी । यहां तक कि डाक्टर , इन्सपेक्टर , विभिन्न महकमों के हाकिम , पादरी सभी किसान से रसद लेते थे । जमींदार जब किसी बड़े अफसर को दावत देता था तो उसका भार भी किसानों पर ही पड़ता था । " [42]

प्रेमचन्दजी की दीर्घ-दृष्टि ने सुदूर-भविष्य की कल्पना कदाचित कर ली थी । अतः "गोदान" में शोषकों का एक नया रूप उभरकर आया है । भेड़िये यहां मेमने बनकर आये हैं । उन्होंने देश-भक्ति का मुखौटा पहन लिया है । जमींदार रायसाहब महात्मा गांधी के आंदोलन में जेलयात्रा भी कर आये हैं और दूसरी तरफ अंग्रेजों के भी कृपाकांक्षी बराबर बने रहे हैं , तीसरी तरफ किसानों को भी चूस रहे हैं — एक नये अंदाज में कि पता भी न चले । प्रोफेसर मेहता उनका पर्दाफाश करते हुए ठीक ही कहते हैं — "मानता हूं कि आपका आपके असामियों के साथ बहुत अच्छा बर्ताव है , मगर प्रश्न यह है कि उसमें स्वार्थ है या नहीं , इसका एक कारण क्या यह नहीं कि हो सकता कि मद्धिम आंच में भोजन स्वादिष्ट पकता है । गुड़ से मारने वाला जहर से मारने वाले की अपेक्षा कहीं सफल हो सकता है । मैं तो केवल इतना जानता हूं कि हम या तो साम्यवादी हैं या नहीं हैं । हैं तो उसका व्यवहार करें , नहीं हैं तो बकना छोड़ दें । " [43]

यहां मेहता के रूप में मानो प्रेमचन्द की आत्मा ही बोल रही है । इस प्रकार हम देखते हैं कि मिस्टर खन्ना , तंखा , रायसाहब यह सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं । " उनका काम है कमजोरों को चूसना, और इन्हीं लोगों के हाथों में आगे चलकर राजनीति की बागडोर आयेगी, यह प्रेमचन्दजी की पैनी दृष्टि ने देख लिया था । " [44]

ऋण की समस्या भारतीय कृषक-समाज की ~~कि~~ एक मुख्य समस्या है । यह वह अभिशाप है जिसने उसके जीवन के तमाम सत्वों को चूस डाला है । डा० रामविलास शर्मा के मतानुसार यह ऋण की समस्या ही "गोदान" की मुख्य समस्या है ।[45] जिन दिनों में गोदान लिखा जा रहा था , प्रेमचन्दजी स्वयं गले तक ऋण में डूबे हुए थे । अतः होरी की समस्या एक तरह

से प्रेमचन्दजी की समस्या है ।

"मंगलसूत्र" , "गोदान" के बाद का अपूर्ण उपन्यास है , जिसमें प्रेमचन्दजी ने देवकुमार नामक एक साहित्यकार के जीवन को अंकित किया है । देवकुमार अपनी आदर्शवादिता के कारण अपने ही घर के सदस्यों में अप्रिय हो गये हैं । परिवार के सभी लोग उनसे असंतुष्ट हैं । दुनिया में चारों तरफ जो लूट खसोट मची है , उसके कारण उनका मन उद्विग्न रहता है और वे शनैः शनैः साम्यवाद की ओर झुक रहे हैं । उन्हें इस बात का विश्वास हो जाता है कि जब तक संसार में समानता नहीं आयेगी , तब तक न तो मानव ही उन्नति कर सकता है और न मानवता ही पनप सकती है । वस्तुतः देवकुमार के रूप में हम प्रेमचन्दजी की प्रतिमूर्ति को पाते हैं । " ऐसा प्रतीत होता है कि 'गोदान' तक अनेक प्रयोग करते हुए प्रेमचन्दजी जिन वास्तविकताओं तक पहुँचे हैं , उन्होंने जिन तथ्यों को प्राप्त किया है , उनका संकेत इस अपूर्ण उपन्यास में देने का प्रयास किया है । अगर उनका यह उपन्यास पूर्ण हो जाता तो बहुत से तथ्य हमारे सामने आते । " 46

दहेज-प्रथा सवर्ण-हिन्दू-समाज का महान×क्लेक×ह× कलंक है । "सवर्ण" शब्द का प्रयोग यहाँ साभिप्राय हुआ है ; क्योंकि यह बुराई "अवर्णों" में नहीं पाई जाती है , बल्कि कुछ x " अवर्णों " में तो "मानव-देय" के रूप में कन्या के पिता को कुछ निश्चित रकम देने की प्रथा है । इस दहेज-प्रथा के कारण कई कन्याएं अविवाहित रह जाती हैं , तो निर्मला जैसी कई षोडशवर्षीय कोमल-कलिकाएं दो-तीन बच्चों के पिता ऐसे अधेड़ मुंशी तोताराम के पल्ले पड़कर असमय ही मुरझा जाती हैं । मुंशी तोताराम कामशास्त्र की पुस्तकों को पढ़कर तथा मित्रों की सलाह से छैला बनने का प्रयत्न करते हैं , परन्तु उम्र के कारण एक प्रकार की लघुता-ग्रंथि के वे शिकार हो जाते हैं , जिसके तहत निर्मला के ही हमउम्र अपने बेटे मंसाराम को लेकर उनके मन में शंका के कीड़े कुलबुलाते रहते हैं । इस शंका-कुशंका तथा क्लेश के माहौल में समूचा परिवार तितर-बितर हो जाता है । निर्मला के जीवन की करुण परिणति {असमय मौत} के साथ उपन्यास का अंत होता है । वस्तुतः सुमन और निर्मला एक ही समस्या — दहेज-प्रथा — के शिकार हैं , किन्तु

दोनों की परिणति भिन्न ढंग से हुई है । इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्या की एकोन्मुखता तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण के कारण "निर्मला" प्रेमचन्दजी का एक सुगठित उपन्यास है । वस्तु-गठन की दृष्टि से "गबन" भी उल्लेखनीय है । स्त्रियों के आभूषण-प्रेम , मध्यवर्गीय झूठी शान तथा पुलिस के हथकण्डों का बड़ा ही सुन्दर चित्रण इसमें बन पड़ा है ।

अतः यह सहज ही कहा जा सकता है कि सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं की जितनी सूक्ष्म पकड़ प्रेमचन्दजी को है , उतनी बहुत कम लेखकों में पायी जाती है । मानव-चरित्र की पहचान प्रेमचन्द की बड़ी पैनी और गहरी है । उनका सामाजिक निरीक्षण-परीक्षण भी तगड़ा है और इसलिए मानव-चरित्र का बड़ा सूक्ष्म ब्यौरा वे प्रस्तुत कर सके हैं । प्रेमचन्द पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अभाव का आरोप लगाया जाता है , परन्तु उन्होंने जिस प्रकार के समाजोन्मुखी समस्यामूलक उपन्यासों का प्रणयन किया है , उसके लिए आवश्यक मनोवैज्ञानिकता उनमें है । यहाँ डा0 रामदरश मिश्र का यह मत ध्यातव्य रहेगा — " एक बात ध्यान देने की होती है कि अचेतन मन की जितनी गहरी पर्तें दुहरा जीवन जीने वाले , पढ़े-लिखे , सभ्य दिखने वाले लोगों में होती है उतनी निश्छल , सहज जीवन जीने वाले तथा कम पढ़े-लिखे लोगों में नहीं होती । " 47

:: प्रेमचन्दयुग के अन्य समस्यामूलक उपन्यास ::

प्रेमचन्द युग के अन्य सामाजिक-समस्यामूलक उपन्यासकारों में विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" , पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" , भगवतीप्रसाद वाजपेयी , ऋषभचरण जैन , जयशंकर प्रसाद , वृन्दावनलाल वर्मा , सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" , सियारामशरण गुप्त , रामेश्वर प्रसाद , धनीराम "प्रेम" , मन्नन द्विवेदी , प्रफुल्लचन्द्र ओझा , श्रीनाथसिंह , शिवरानी देवी , तेजोरानी दीक्षित , उषादेवी मित्रा , गंगाप्रसाद श्रीवास्तव प्रभृति मुख्य हैं । इस युग में प्रेमचन्द और उनके सामाजिक उपन्यासों का जादू कुछ ऐसा रहा कि वृन्दावन-लाल वर्मा एवं चतुरसेन शास्त्री जैसे लेखक जो बाद में ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में स्थापित हुए , उन्होंने भी कुछ सामाजिक उपन्यास दिये । प्रेमचन्दजी

के अनुसार "गड़े मुर्दे उखाड़ने वाले " प्रसादजी ने भी इस कालखण्ड में " कंकाल" §1929§ नामक एक यथार्थवादी कृति दी है, जिसमें उन्होंने अभिजात वर्ग की बखिया ही उधेड़कर रख दी है। इसमें प्रसादजी ने अभिजात वर्ग की वर्ण-संकरीय सृष्टि का मखौल उड़ाते हुए जाति एवं वर्ण के अहंकार को मिथ्या घोषित किया है। "कंकाल" एक यथार्थवादी समस्यामूलक उपन्यास है, जिसमें केवल समस्याओं को उठाया गया है, उनका हल नहीं दिया गया है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" प्रेमचन्द स्कूल के उपन्यासकार हैं। विवेच्य काल में उनके "माँ " और "भिखारिणी" §1929§ यह दो उपन्यास मिलते हैं, जिनमें उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण उभरकर सामने आया है। बाबू गुलाबराय के अनुसार "कौशिक"जी निम्न कोटि के पात्रों में, जैसे भिखारियों में, मानवता के दर्शन कराने में सिद्धहस्त थे।[48] " भिखारिणी " में जस्सो जैसी निम्न कोटि की स्त्री में उच्च मानवीय आदर्शों की स्थापना कराके वे मानो सिद्ध करते हैं कि भावों की उच्चता पर केवल उच्च वर्ग का ही एकाधिकार नहीं है। "माँ" उपन्यास में दो माताओं — सुलोचना और सावित्री — द्वारा अपने-अपने पुत्रों पर पड़े हुए प्रभावों की तुलना है। श्याम और शंभू दोनों सुलोचना के पुत्र हैं, पर श्याम को सुलोचना का पति घासीराम लालच में आकर ब्रजमोहन एवं सावित्री — एक निःसंतान दम्पति — को दे देता है। शंभू सुलोचना के योग्य मार्ग-दर्शन में पढ़-लिखकर एक योग्य इन्सान बनता है, दूसरी तरफ श्याम समृद्ध व संपन्न सावित्री के झूठे-फूहड़ लाड़-प्यार में बिगड़ता चला जाता है। कुछ बिगड़ैल लड़के किस प्रकार वेश्यागामी बन जाते हैं, इसे इस उपन्यास में भलीभाँति दिखाया गया है। वेश्यागामिता के दोषों को उद्घाटित कर लेखक युवापीढ़ी को उससे बचाना चाहता है।

पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" एक मस्त फक्कड़ यायावरी प्रकृति के लेखक हैं। व्यंग्यात्मक गद्यशैली पर इनका सहज अधिकार है। "घण्टा" §1916§, "चन्द हसीनों के खतूत " § 1923§, " दिल्ली का दलाल " §1927§, "बुधुआ की बेटी " §1928§ और " शराबी" §1930§ आदि इनके इस काल के प्रमुख उपन्यास हैं। "घण्टा" उनका प्रथम उपन्यास है, जिसमें नायक मंदिर का एक "घण्टा" है। इसके द्वारा लेखक ने मंदिर में आने वाले

लोगों के कुकर्मों को उद्घाटित करवा के उनका भण्डाफोड़ किया है । "चन्द हसीनों के खूतूत " में दो भिन्न सम्प्रदायों — हिन्दू और मुस्लिम — के युवक और युवती के प्रेम को दिखाकर उभय-संप्रदायों की अमानवीयता को रेखांकित करते हुए मानवीय प्रेम को सत्य के रूप में स्थापित किया है । " इस प्रक्रिया में लेखक ने रूढ़ियों और नयी चेतना की टकराहट दिखाकर समाज को नयी चेतना की ओर उन्मुख करना चाहा है । प्रेम की संवेदना का बहुत जीवंत चित्रण हुआ है । " [49] "दिल्ली का दलाल" नारियों के अवैध व्यापार से सम्बन्धित है तो "शराबी" में शराब की लत के दुष्परिणामों को चित्रित किया गया है । " बुधुआ की बेटी " उनका एक महत्वपूर्ण उपन्यास है । बुधुआ की बेटी रधिया भंगिन अनिंद्य सुन्दरी है । घनश्याम द्वारा प्रवंचित होकर वह समूचे पुरुष-वर्ग को अपना शत्रु मान लेती है, और पुरुषों को अपने प्रेम-पाश में फांसकर उन्हें पागल और बर्बाद करके अपने प्रतिशोध की अग्नि को शांत करती है । यही उपन्यास सन् 1955 में "मनुष्यानंद" के नाम से प्रकाशित हुआ है । इसमें लेखक ने अछूतोद्धार और नारी-जागरण की समस्या को उठाया है । लेखक ने न केवल अछूत समस्या के सामाजिक और आर्थिक पहलुओं को उठाया है, प्रत्युत स्वयं अछूतों में व्याप्त बुराइयों को भी उद्घाटित किया है । हिन्दू समाज में व्याप्त दुहरी नैतिकता और सामाजिक मूल्यों, उनके सिद्धांत और व्यवहार के अन्तर प्रभृति को भी लेखक ने कुशलतापूर्वक चित्रित किया है । एक ओर लोग अछूत की परछाईं से भी बचते हैं, दूसरी ओर अछूत कन्याओं से अवैध सम्बन्ध भी रखते हैं । समाज की अमानुषिक एवं रूढ़िगत संकीर्णता पर व्यंग्य करते हुए उग्रजी लिखते हैं — " यद्यपि यहाँ पर अनेक ऐसे हिन्दू हैं जिनके यहाँ कुत्ते भी पले हैं और एक नहीं अनेक । भंगी समाज का मैला फेंकने के कारण पतित हैं और उसी मैले को खाने वाला कुत्ता शुद्ध है । वसुधैव कुटुम्बकम् सिद्धान्त आदि के आविष्कारक इन हिन्दुओं का ऐसा पतन हो गया पादरी साहब ! " [50]

भगवतीप्रसाद वाजपेयी भी इस काल के एक उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं । विवेच्य काल में उनके "प्रेमपथ " (1926), " अनाथ पत्नी" ('28), " त्यागमयी " (1932), " पतिता की साधना " (1936), प्रभृति

उपन्यास मिलते हैं जिनमें प्रायः नारी- समस्याओं का आदर्शात्मक ढंग से चित्रण मिलता है ।

औपन्यासिक शिल्प या कलात्मकता नहीं , प्रत्युत समाज के यथातथ्य नग्न चित्रण के लिए ऋषभचरण जैन के उपन्यास उल्लेख्य समझे जायेंगे । उन्होंने समाज की गन्दगी को , विशेषतः सेक्स-संबंधी समस्याओं को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है । " मास्टर साहिब" §1927§ , "दिल्ली का व्यभिचार" §1928§ , "वेश्यापुत्र" § 1929§ , "सत्याग्रह" §1930§ , "चांदनी रात " §1931§ , " मधुकरी" §1933§ , "दुराचार के अड्डे " §1936§ , " मंदिरदीप" §1936§ , तथा " तपोभूमि" §1936§ उनके प्रमुख उपन्यास हैं । "तपोभूमि" जैनेन्द्रकुमार के सहलेखन में लिखा गया उपन्यास है ।

सियारामशरण गुप्त गांधीवादी-आदर्शवादी कलाकार हैं । प्रेमचन्दजी की ही भाँति उन्होंने भी मध्यवर्ग और निम्नवर्ग की समस्याओं को चित्रित किया है । "गोद" §1933§ और " अंतिम आकांक्षा " §1934§ उनके इस काल के दो सामाजिक-समस्यामूलक उपन्यास हैं । "गोद" में किशोरी नामक एक युवती की कुछ त्रासद स्थितियों को लिया गया है । हिन्दू समाज की रूढ़ मान्यताओं पर इसमें व्यंग्य किया कया है । हमारे समाज में यदि किसी स्त्री का अपहरण हो जाता है तो उसे पतिता करार दिया जाता है और उसके परिवार वाले , यहां तक कि उसके मां-बाप भी , उसे अपनाने में हिचकते हैं । यही समस्या इस उपन्यास में उठायी गई है । किशोरी का विवाह शोभाराम से होनेवाला था , परन्तु वह मेले में खो जाती है । बाद में स्वयंसेवक उसे उसकी विधवा माता कौशल्या को सौंपकर चले जाते हैं । शोभाराम के बड़े भाई उसे अपनी बहू बनाने से साफ़ इन्कार कर देते हैं , परन्तु उपन्यास के अन्त में किशोरी की निर्दोषता प्रमाणित होने पर शोभाराम उससे विवाह के लिए राजी हो जाता है । " अंतिम आकांक्षा " आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है , जिसमें रामलाल नामक एक निम्न जाति के नौकर को उपन्यास का नायक बनाया गया है । इसमें छुआछूत तथा हिन्दू जाति की धार्मिक संकुचितता को लेकर काफी व्यंग्य किया गया है । रामलाल ऊँचे मानवीय भावों से संपन्न होने के बावजूद निम्नवर्गीय होने के कारण अपने अच्छे कार्यों के लिए समाज से उपेक्षा और प्रतारणा ही पाता

है । डॉ० रामदरश मिश्र के शब्दों में " गांधीवादी प्रभाव के होने के कारण लेखक उसे कहीं आरोपित नहीं करता । वह रामलाल को उसकी समूची घुटन के साथ प्रस्तुत करता है किन्तु उससे विद्रोह के स्थान पर सेवा और समर्पण ही कराता है और इस रूप में समाज पर उसका प्रभाव डालकर समाज को बदलने की आकांक्षा रखता है । " [51]

आलोच्य काल-मर्यादा में प्रसादजी के भी दो उपन्यास आते हैं — " कंकाल" (1929) और "तितली" (1934) । कुछ लोग "कंकाल " को प्रकृतवादी (Naturalistic) उपन्यासकार जोला , फ्लोब्बेयर तथा मोपांसा की कोटि में रखते हैं , किन्तु वस्तुतः "कंकाल" एक यथार्थवादी समस्या-मूलक उपन्यास है , जिसमें केवल समस्याओं को उठाया गया है , उनका कोई हल (आदर्शवादी ढंग से) प्रस्तुत करने का कोई यत्न नहीं किया गया । यथार्थवादी कला की दृष्टि से इसे एक उच्च कोटि का मानदण्ड माना गया है , जबकि कलाकार अपने उद्देश्य को अधिकाधिक गुप्त और अप्रत्यक्ष रखता है ।[52] यह एक शुद्ध यथार्थवादी कृति है जिसमें बिना किसी महत्ता या आदर्श-निरूपण के समाज की विषमता , विरूपता एवं विद्रूपता को तटस्थ भाव से चित्रित किया गया है । डॉ० रामदरश मिश्र के मत को यहाँ उल्लेख-नीय समझा जायेगा कि " यथार्थवाद का प्रारम्भ प्रेमचन्द कर चुके थे , किन्तु ' कंकाल' अपनी प्रकृति में थोड़ा भिन्न ठहरता है । एक तो उसमें प्रेमचन्द की कृतियों के समान यथार्थ पर आदर्श का आरोपण नहीं है , दूसरे इसके यथार्थ में लेखक की आत्म-संपृक्ति न होकर तटस्थता है , तीसरे इस उपन्यास में प्रेमचन्द के आर्थिक वैषम्य को आधार न बनाकर वर्तमान काल की धार्मिक और सांस्कृतिक मनोवृत्तियों के द्वन्द्व को आधार बनाया है । धार्मिक संस्थाएं और लोग सांसारिक वासना से आक्रान्त हो चुके हैं , अतः उनकी नैतिकता एक विचित्र द्वन्द्व और संशय की स्थिति से गुजर रही है । सत्य की खोज में निकले हुए निरंजन , बाथम जैसे लोग अपने भीतर निहित सांसा-रिक वासनाओं के शिकार हो जाते हैं और एक ऐसे जाल का निर्माण करते हैं कि स्वयं तो उसमें फंसे रहते ही हैं , औरों को भी उलझा देते हैं । सबसे बड़ी विसंगति तो यह है कि ये गिरे हुए लोग सत्यद्रष्टा होने का दम भरते हैं । इस क्रम में कितनी ' किशोरियां ' कितनी ' लतिकाएं ' या

तो बरबाद हो जाती हैं या जीवन का ऐसा पथ चुन लेती हैं जो निरंतर एक नये छद्म की आवश्यकता रखता है । प्रसादजी का विश्वास था कि धर्म हमारे समाज को पतित होने से बचा नहीं सका है और नहीं तो उसने अपने भीतर पैदा होने वाली नित-नूतन विसंगतियों से वर्णसंकरी समाज की रचना की है ।[53] धर्म के मिथ्याबोध ने समाज को बाध्य किया है कि वह अपनी भूली-भटकी बहू-बेटियों को स्वीकार करने से इनकार करे तथा अविवाहित व विधवा स्त्रियों को मां बनाकर परित्यक्त कर दें , और इन्हीं कारणों से "कंकाल" में यहां से वहां तक मंगल , विजय , घंटी , लतिका , यमुना , गाला जैसे धर्म और समाज के मारे हुए , भटके तथा वर्णसंकरी अभिशाप से त्रस्त पात्र बिखरे हुए हैं ।

"तितली" नारी-विषयक भारतीय दृष्टि और कृषक-सभ्यता की गहरी पहचान का उपन्यास है । " उपन्यास की यात्रा कृषि-यथार्थ के बीच से होती है , इसलिए लेखक कृषि संबंधी अनेक समस्याओं और घटनाओं की टकराहटों का ताप उभारता है ।"[54]

उक्त समस्यामूलक उपन्यासों के अतिरिक्त आलोच्य-काल में प्रतापनारायण श्रीवास्तव का "विदा" §1929§ , "विजय" §1936§ ; राजा राधिकारमणप्रसादसिंह का "तरंग"§1921§ ; राजेश्वरप्रसाद का "मंच " §1928§ , धनीराम प्रेम का "वेश्या का हृदय" तथा निराला का x " अप्सरा" §1931§ / मंच , वेश्या का हृदय तथा अप्सरा वेश्या-समस्या पर आधारित उपन्यास हैं / ; श्रीनाथसिंह का "क्षमा" /1925/ , प्रफुल्लचन्द्र ओझा का "तलाक" /1932/ § ये दो उपन्यास अनमेल-विवाह की समस्या पर आधारित हैं § ; शिवरानी देवी द्वारा प्रणीत " नारी-हृदय" /1932/ , उषादेवी मित्रा कृत " वचन का मोल " /1936/ , तेजोरानी दीक्षित कृत " हृदय का कांटा" /1932/ § ये तीन उपन्यास नारी-आदर्शों पर आधारित हैं § ; चन्द्रशेखर शास्त्री कृत " विधवा के पत्र [55]/1933/ , गंगाप्रसाद श्रीवास्तव कृत "गंगा जमुनी" [56] /1927/ , गोविन्दवल्लभ पंत कृत "मदारी" [57] §1935§ , चतुरसेन शास्त्री कृत "हृदय की परख " /1918/, "व्यभिचार" /1928/ , " हृदय की प्यास" /1932/ "अमर अभिलाषा" /1933/ ; वृन्दावनलाल वर्मा कृत "लगन" /1927/ , "प्रेम की भेंट" /1928/,

" प्रत्यागत" /1928/ , " कुंडलीचक्र" /1932/ , " संगम" /1927/ ; तथा मन्नन द्विवेदी कृत "कल्याणी" /1920/ , " और मदारीलाल गुप्त कृत "सखाराम" /1924/ प्रभृति उपन्यास आते हैं ।

"लगन" दहेज-प्रथा पर चोट करने वाला उपन्यास है । दहेज के अभाव में पुत्र का बाप बारात लेकर लौट जाता है , किन्तु आधुनिक शिक्षा-प्राप्त पुत्र अपनी होनेवाली वधू को चाहता है , अतः अंततोगत्वा उनका ब्याह हो जाता है । "संगम" में डाकू-जीवन की समस्या के परिप्रेक्ष्य में ग्रामीण-जीवन की विषमताओं को उद्घाटित किया गया है । "प्रत्यागत" में सामाजिक, धार्मिक और साम्प्रदायिक विषमताओं , कुरूपताओं तथा टकराहटों का चित्रण है । " कुण्डलीचक्र" में ग्राम्य-समाज में व्याप्त कुरीतियों , अज्ञानजन्य मान्यताओं , भूत-प्रेत में विश्वास प्रभृति ग्रामीण-जीवन की समस्याओं का आकलन मिलता है ; तो "प्रेम की भेंट" में ग्रामीण-जीवन की ऐसी ही समस्याओं की पृष्ठभूमि में एक असफल प्रेम की व्यंजना हृदय को कचोट पहुंचाती है ।

मन्नन द्विवेदी कृत "कल्याणी" में बालविवाह , वृद्ध-विवाह , अशिक्षा , कुशिक्षा , पारस्परिक वैमनस्य प्रभृति के दुष्परिणामों को चित्रित किया गया है , तो मदारीलाल गुप्त कृत "सखाराम" में आर्थिक विभीषिकाओं की आग में जलते-मरते निम्नवर्गीय जीवन की त्रासद स्थितियों को उद्घाटित करने का यत्न हुआ है ।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव कृत "विदा" में भारतीय एवं पाश्चात्य सभ्यता की तुलना करते हुए भारतीय सभ्यता का समर्थन तथा पाश्चात्य सभ्यता की आलोचना की गई है । "विजय" उपन्यास में विधवा-समस्या को उठाया गया है । उसकी नायिका कुमुदलता एक सुशिक्षित बालविधवा है । विधवाओं की यातनामयी स्थिति को निर्देशित करते हुए वह विधवा-विवाह का समर्थन करती है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रेमचन्दजी के युगनिर्माता व्यक्तित्व ने इस काल में हिन्दी उपन्यास को एक विशिष्ट गरिमा , ऊंचाई और इयत्ता प्रदान की थी । इसके पूर्व हिन्दी उपन्यास अपरिपक्व एवं दिशाहीन था । प्रेमचन्दजी ने मानवीय संवेदना का अवलम्ब लेकर उसमें प्राण-

प्रतिष्ठा की । मानव-चरित्र को उसके समग्र रूप में [58]-- "सु" और "कु" से समन्वित रूप में — रखने का सर्वप्रथम प्रयत्न करते हुए तत्कालीन समाज की प्रायः सभी समस्याओं को उकेरा है । इसका यथोचित प्रभाव प्रेमचन्द-स्कूल के उपन्यासकारों पर भी पड़ा है और उन्होंने भी तत्कालीन समाज की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला है , जिसे हम उपर्युक्त विवेचन में दृष्टिगत कर गए हैं ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामभित्तीय उपन्यासों में मानव-जीवन की समस्याओं पर विचार किया जा रहा है , अतः अब स्वाधीनता प्राप्ति के तक के / सन् 1936-1947/ समस्या-मूलक उपन्यासों पर एक विहंगम दृष्टिपात किया जाएगा ।

:: प्रेमचन्दोत्तर युग में स्वाधीनता-पूर्व तक के समस्यामूलक उपन्यास :

प्रेमचन्द -युग में प्रायः सामाजिक व ऐतिहासिक उपन्यास ही उपलब्ध होते हैं , परन्तु प्रेमचन्दोत्तर युग में अनेक औपन्यासिक प्रवृत्तियों का आकलन दृष्टिगत होता है । जैसे — /1/ सामाजिक उपन्यास , /2/ समाजवादी उपन्यास , /3/ मनोवैज्ञानिक उपन्यास , /4/ आंचलिक उपन्यास , /5/ राजनीतिक उपन्यास , /6/ व्यंग्यात्मक उपन्यास , /7/ साठोत्तरी उपन्यास आदि आदि । परन्तु एक तो हमें समस्यामूलक उपन्यासों की परंपरा को रेखांकित करना है , और जैसा कि इस परिच्छेद के उक्त शीर्षक से स्पष्ट है , सन् 1947 तक के उपन्यासों को लेना है । अतः हमारी विचार-परिधि में सामाजिक , समाजवादी और राजनीतिक उपन्यास ही आ पायेंगे ।

उक्त सीमा में पाँडेय बेचन शर्मा "उग्र" के "सरकार तुम्हारी आँखों में " §1937§ तथा "जीजीजी" §1943§ प्रभृति उपन्यास आते हैं , जिनमें सामाजिक समस्याओं का अत्यन्त यथार्थपूर्ण चित्रण उन्होंने प्रस्तुत किया है । उग्रजी की दृष्टि कुछ रोमाण्टिक है , जिसमें निरीह नारी के प्रति पुरुष-समाज की लंपटता-कामुकता का नग्न-चित्रण उन्होंने किया है । हिन्दू-मुस्लीम ऐक्य , अनमेल-विवाह , नारी-स्वातंत्र्य , शराब और

व्यभिचार आदि की समस्याओं को उन्होंने कहीं-कहीं आदर्शवादी अंत के साथ उभारा है ।

चतुरसेन शास्त्री ने ऐतिहासिक उपन्यासों के उपरांत समस्या-मूलक सामाजिक उपन्यास भी दिए हैं । उक्त समय-सीमा में उनके "आत्मदाह" (1937), "नीलमणि" (1940) आदि उपन्यास आते हैं । अपने इन उपन्यासों में उन्होंने प्रेमचन्द के आरंभिक आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को ही अपनाया है, बल्कि आदर्श का आग्रह कुछ अधिक ही दिखता है । लेखक स्वयं स्वीकार करते हैं — " साहित्य कला का चरम विकास है और समाज का मेरूदण्ड । धर्म और राजनीति का वह प्राण है, इसलिए उसमें दो गुण होने अनिवार्य हैं — एक यह कि आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करे और दूसरे वह मानवता के धरातल को ऊंचा करे । " [59] अतः अपने इन्हीं आदर्शों के अनुरूप उन्होंने अपने सामाजिक उपन्यासों की रचना की है ।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी भी इस युग के एक अन्य उपन्यासकार हैं । उनके स्वातंत्र्य-पूर्व उपन्यास प्रेमचन्द की कला से ही प्रेरित दिखाई देते हैं, जिनमें सुधारवाद के साथ-साथ अतिभावुकता भी दृष्टिगत होती है । उनका प्रिय विषय नारी-पुरुष का शाश्वत प्रेम-सम्बन्ध है । इस समय के उनके उल्लेखनीय उपन्यासों में "पतिता की साधना" (1936), "पिपासा" (1937), " दो बहिनें " (1940), " निमंत्रण " (1942) प्रभृति की परिगणना की जा सकती है ।

आलोच्य सीमा-मर्यादा में प्रतापनारायण श्रीवास्तव के प्रमुखतया दो उपन्यास आते हैं — " विकास " (1938) और "बयालीस" (1947) । " विकास " में मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं का निरूपण है, तो "बयालीस " में प्रसिद्ध "हिन्द छोड़ो" की जन-क्रांति को आधार बनाया गया है । इनके उपन्यासों में भी प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का प्रभाव देखा जा सकता है ।

विवेच्यकाल में सियारामशरण गुप्त का एक मात्र उपन्यास " नारी" (1937) मिलता है । उनके अग्रज मैथिलीशरण गुप्त ने नारी की असहायता एवं विवशता का बड़ा ही कारुणिक चित्र उपस्थित किया है —

" अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी ,
आंचल में है दूध और आंखों में पानी ।

उक्त पंक्तियों की प्रतिमूर्ति-सी जमुना "नारी" की नायिका है । जमुना का पति वृन्दावन उसे असहाय छोड़कर चला जाता है । अपने एक मात्र पुत्र -- हल्ली के साथ आर्थिक व सामाजिक संघर्षों को झेलते हुए वह अपने पति की प्रतीक्षा करती है । अनेक वर्षों तक वह अपने पति को खोजती रही । उसके इस कार्य में उसके पति के मित्र अजीत चौधरी ने जी-जान से सहायता की थी । अंत में वह उससे विवाह कर लेती है । "निर्मला" , "नारी" तथा "त्यागपत्र" इन तीनों उपन्यासों में नारी-जीवन की त्रासद स्थितियों को उकेरा गया है । डा० नगेन्द्र ने "त्यागपत्र" और "नारी" पर विस्तार से विचार करते हुए लिखा है -- " `त्यागपत्र ` का कौशल अपनी विदग्धता के बल पर अपने मेधावी शिल्प की दुहाई देता है , और "नारी" का कौशल अपने को छिपाकर अपने स्नेहार्द्र शिल्पी की सिफारिश करता है । " 60

"चित्रलेखा" के द्वारा भगवतीचरण वर्मा को अतुलनीय ख्याति प्राप्त हुई । विवेच्य काल में उनका "टेढ़े-मेढ़े-रास्ते " उपन्यास मिलता है । वर्माजी में हमें उनका अहं-पोषित व्यक्तिवाद एवं नियतिवाद मिलता है । कथा कहने और बहलाने की कला उन्हें हस्तगत है । "चित्रलेखा" का महत्व उनके दार्शनिक चिंतन के कारण कम , उनके किस्सागो कथा-कौशल के कारण अधिक है । " टेढ़े-मेढ़े-रास्ते " वर्माजी का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है । उसकी पृष्ठभूमि राजनीतिक है । इसमें ताल्लुकेदारी प्रथा के पतन तथा सम्मिलित परिवार-व्यवस्था के विघटन को रेखांकित किया गया है । ताल्लुकेदार राम-नाथ की रूढ़िवादी अहम्मन्यता के कारण एक संपन्न सम्मिलित परिवार कैसे बिखर जाता है , इसे लेखक के कथा-कौशल ने भलीभांति चित्रित किया ह है है । रामनाथ का विश्वास है कि जिन सिद्धान्तों को वह अपनाए हुए है , वह ठीक हैं और वे सभी मार्ग जिन पर अxx उसके अपने लड़के तथा दूसरे लोग चल पड़े हैं वे टेढ़े-मेढ़े हैं ।

ऋषभचरण जैन का लेखन प्रेमचन्द-युग से मिलने लगता है । उल्लिखित समय-सीमा में उनके "चम्पाकली" / 37 / , " हज हिज़-हाइनेस" / 37/ , "मयखाना" /1938/ , " तीन इक्के " /1938/ प्रभृति उप-न्यास मिलते हैं जिनमें मुख्यतः वेश्या-समस्या , सामन्तकालीन विलासिता

तथा उच्चवर्गीय जीवन में व्याप्त यौन-कृ विकृतियों आदि का चित्रण हुआ है ।

इस काल-खण्ड में उषादेवी मित्रा के "पिया" §1937§, "जीवन की मुस्कान" §1939§ जैसे उपन्यास प्राप्त होते हैं । ×××××× "पिया" में बाल-विधवा पपीहरा उर्फ पिया की कथा है । पिया जमींदार सुकान्त की भतीजी है जो अपने स्वतंत्र विचारों के कारण हमारा ध्यान आकर्षित करती है । इसमें मुख्यतः हिन्दू-विधवा की समस्या को लेखिका ने ×××××× चित्रित किया है । इस उपन्यास की नीलिमा एक ऐसी बाल-विधवा है, जिसने कभी पति का मुख भी न देखा था, फिर भी हिन्दू-रूढ़िवादिता से ग्रस्त सामाजिक-संस्कारों के कारण उसे तप-संयम का जीवन व्यतीत करना पड़ता है । इस प्रकार इसमें लेखिका ने हिन्दू-धर्म की इन सड़ी-गली रूढ़ियों पर व्यंग्य किया है । "जीवन की मुस्कान" नारी-जीवन की असहायता एवं वेश्या-समस्या पर आधारित है ।

राजा राधिकारमणप्रसादसिंह के इस काल के उपन्यासों में "राम-रहीम" §1937§, "टूटा तारा" §1941§ तथा "देव और दानव" (1945) आदि मुख्य हैं । "राम-रहीम" उपन्यास में बेला और बिजली नामक दो स्त्रियों के माध्यम से भारतीय नारी की धर्म-परायणता, त्यागमयता, तज्जन्य यातना, तथा पश्चिमी संस्कार में पली ×××× स्त्री की धर्म-विमुखता, भोग-प्रवृत्ति और मौज-मस्ती का चित्रण कर उभय की विरोधी मान्यताओं का आकलन किया है और प्रकारान्तर से भारतीय समाज द्वारा अपनी ही धर्म-परायण स्त्रियों पर किए जाने वाले अत्याचारों का विरोध कर उसे §भारतीय समाज को§ सावधान किया गया है कि कहीं ऐसा न हो कि भारतीय स्त्रियां अपने पर होने वाले अत्याचारों से आजिज आकर पश्चिमी ढंग का भोग-विलास युक्त तथा धर्म-विरोधी जीवन अंगीकृत न कर लें, क्योंकि एक समय आता है जब चन्दन भी आग फेंक देता है । "टूटा तारा" तथा "देव और दानव" आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए दो साधारण से उपन्यास हैं जिनमें समाज की कुरीतियों का वर्णन मिलता है ।

लाला रामजीदास ×××× वैश्य कृत "सुघर गंवारिन" (1938) में जमींदारों की चालबाजी, उनके कारिन्दों की करतूतें तथा मुकदमेबाजी जैसी कई समस्याएं मिलती हैं । हिन्दू-संस्कृति के अनुकूल आदर्श स्त्री का चरित्र

सामने रखने के कारण इसे एक स्त्रियोपयोगी शिक्षाप्रद उपन्यास भी कह सकते हैं । [61]

देवनारायण द्विवेदी कृत "दहेज" §1938§ उपन्यास दहेज-प्रथा के अनेक पक्षों पर प्रकाश डालता है । वस्तुतः काशी पुस्तक भण्डार के श्री सूर्यबली सिंह ने प्रेमचन्दजी से अनुरोध किया था कि वे इस प्रथा को ही लेकर एक उपन्यास की रचना करें । परन्तु उसके बाद प्रेमचन्दजी बीमार पड़ गये और वह उनकी अंतिम बीमारी थी । अतः इस उपन्यास के द्वारा द्विवेदीजी ने उसी काम को पूरा करने का यत्न किया है ।[62] इसमें लेखक ने यह निष्पादित किया है कि दहेज के चलते कितने युवक व युवतियों की जिन्दगी नरक बन जाती है । निर्धन पिताओं की गुणवती लड़कियां अपात्रों के गले मढ़ दी जाती हैं, दूसरी तरफ दहेज के कारण ही बहुत से धनी-पुत्र युवक अच्छी, सुशील, संस्कारी, सुंदर पत्नियों से महरूम रह जाते हैं ।

हिन्दी के ख्यातिप्राप्त उपन्यासकार चतुरसेन शास्त्री के कनिष्ठ भ्राता श्री चन्द्रसेन द्वारा प्रणीत उपन्यास "जीवन तप" §1938§ हमारे समाज की नाना कुरीतियों एवं कुसंस्कारों को उद्घाटित करता है । बालविवाह, अनमेल विवाह आदि कुप्रथाएं हिन्दू-समाज को जर्जर बना रही है । लाखों युवक कुसंगत के शिकार होकर विपथगामी हो ~~रहे~~ रहे हैं, तो हजारों भारतीय नारियां इन कुप्रथाओं के रहते अपने भाग्य को कोसती अत्याचारों से तड़प रही हैं । चन्द्रसेनजी ने केशव, सरस्वती, उमा, विजय प्रभृति पात्रों के द्वारा उक्त सत्य को स्थापित किया है ।

कल्याणसिंह शेखावत कृत "किसकी भूल" ~~में लेखक ने~~ §1938§ में लेखक ने हिन्दू-समाज के शिक्षित लोगों की कमजोरियों तथा उसके फलस्वरूप हिन्दू-विधवाओं पर हो रहे अत्याचारों का हृदयग्राही चित्र अंकित किया है । इसमें लेखक ने यह भी निष्पादित किया है कि दक्षिण भारत में ईसाई धर्म-प्रचारक अपने धर्म के प्रचार के लिए किन-किन प्रकार के प्रलोभनों का आश्रय ले रहे हैं । इसमें दक्षिण भारत में स्थित रामपुर गांव §ताम्रपर्णी नदी के किनारे§ तथा उसमें बसने वाली कानार जाति की कथा को लेखक ने लिया है ।

प्रेमचन्दोत्तर काल के प्रसिद्ध लेखक उपेन्द्रनाथ अश्क की दो

औपन्यासिक कृतियाँ उल्लिखित काल-सीमा में पड़ती हैं -- " सितारों का खेल " [1940] और " गिरती दीवारें " । " सितारों का खेल " अश्कजी का प्रथम उपन्यास है जिसमें उन्होंने भारतीय मध्यवर्गीय मानसिकता तथा उसमें प्रेम और विवाह की समस्या को उपस्थित किया है । परन्तु अश्कजी के औपन्यासिक की वास्तविक ख्याति का आधार तो उनका "गिरती दीवारें" उपन्यास है जिसमें उन्होंने एक निम्न-मध्य-वर्ग के युवक चेतन की जीवनी को प्रस्तुत किया है, बाद में यही चेतन उनके अन्य उपन्यासों में भी विस्तृत होता रहा है । श्री शिवदानसिंह चौहान ने इसे हिन्दी की यथार्थवादी परंपरा का "गोदान" के बाद का श्रेष्ठ उपन्यास कहा है ।[63] प्रेमचन्द ने "गोदान " में किसान-जीवन का सांगोपांग चित्रण किया है, तो प्रस्तुत उपन्यास में अश्कजी ने निम्न-मध्य-वर्ग के जीवन का व्यापक चित्रण किया है । आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने इस उपन्यास की आलोचना करते हुए लिखा है -- " जिस एक व्यक्ति की जीवनधारा का विस्तृत वर्णन इस उपन्यास में है वह एक रीढ़-रहित, ढुलमुलयकीन, कमजोर और अत्यन्त साधारण मनुष्य है । इस आदमी में कहीं कोई द्वन्द्व या तनाव नहीं है । वह समाज की "गिरती दीवारें" का टूटते और बदलते हुए ढांचे का प्रतिनिधि न बनकर उसमें दुबका रहनेवाला दयनीय जीव भर है । वह चोटें सहता ही है, करता नहीं ; वह खुद टूट-टूट जाता है, तोड़ कभी नहीं पाता । दीवारें गिर रही हैं, यह सच है । लेकिन उनके गिरने न गिरने से इस आदमी का कोई वास्ता नहीं । कहा जाता है कि " गिरती दीवारें " इस शीर्षक का और इस शीर्षक वाले उपन्यास का एक दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । मुख्य पात्र ही नहीं, उपन्यास का वातावरण भी ढहती हुई प्राचीनता और उस पर उठती हुई नवीनता का आभास देने में असमर्थ है । शीर्षक सुन्दर जितना भी हो, सार्थक एकदम नहीं । यदि भगवतीचरण वर्मा के नवीनतम [तब] उपन्यास और अश्कजी की इस रचना का नामकरण मुझे करना होता और मेरे सामने दो नाम ही होते --' टेढ़े-मेढ़े-रास्ते ' और ' गिरती दीवारें ' तो मैं पहले के लिए दूसरा और दूसरे के लिए पहला शीर्षक ही चुनना पसन्द करता ।"[64]

वस्तुतः "गिरती दीवारें " व्यक्ति"सत्य की युग-सापेक्ष

अभिव्यक्ति है । प्रो. ओमप्रकाश आनंद ने इसकी समीक्षा करते हुए लिखा था -- " गिरती दीवारें " असल में निम्न मध्यवर्ग की प्रवृत्तियों का एक ऐसा उन्नतनतोदर दर्पण है जिसमें झांकने पर हमें /पाठक रूप में/ अपना और अपने आसपास का प्रतिबिंब व्यंग्य रूप में दिखाई देता है , जिसे देखकर हमें विद्रूप हंसी भी आती है , एक झल्लाहट , एक खीझ भी होती है और जी चाहता है कि उस दर्पण से या तो परे हट जाएं अथवा आंख मूंद लें । परन्तु जो सत्य है , जो यथार्थ है , उससे परे हटना अथवा आंख मूंदना मात्र ही ठीक उपचार नहीं कहा जा सकता । उस विद्रूपमयता से बचाव के लिए तो किसी एक ऐसे विशेष कोण पर खड़े होकर देखने की आवश्यकता है , जहां से हमें , हमारापन वैसा ही लगें और जो कुछ है ताकि जहां उसमें खोट है , विकृति है , उसे दूर कर सकें ।यद्यपि उपन्यास के नायक के मन में भी यही भावना है और वह इसके लिए झुंझलाहट भरे प्रयत्न भी करता है , मगर साधनों की विपन्नता उसे विवशता के खूंटे से वहीं जकड़ देती है और वह छटपटाकर रह जाता है ।"[65] इस प्रकार यह निष्पादित होता है कि जो स्थिति चेतन की है , गालिबन वही स्थिति , वही छटपटाहट , वही कसमसाहट , वही कुछ न कर पानेकी नपुंसक मानसिकता , आज के प्रत्येक निम्न मध्यवर्गीय युवक की है ।

"जूनिया" [1940] गोविन्दवल्लभ पंत द्वारा लिखित उपन्यास है , जो कूर्मांचल- कुमाऊं प्रदेश की सामाजिक पृष्ठभूमि पर आधारित है । इसमें डूम[अछूत] जाति के एक ऐसे भूमिहीन किसान की जीवन-गाथा है जो कई एकड़ भूमि में हल चलाने के उपरान्त भूखा का भूखा ही रह जाता है , क्योंकि जमीन तो सारी गुसाईंजी की है । इस प्रकार इसमें कुमाऊं प्रदेश की पिछड़ी जातियों के शोषण तथा उनकी त्रासद स्थितियों का हृदयस्पर्शी चित्रण उपलब्ध होता है ।

नरसिंह राम शुक्ल द्वारा लिखित उपन्यास "देवदासी" में लेखक ने यह निर्देशित किया है कि देवालय और मठों में रहने वाली देवदासियों और कोठे पर रहने वाली वेश्याओं में केवल इतना ही अन्तर है कि एक धर्म के नाम पर व्यभिचार में लीन हैं और दूसरी पेट के लिए । धर्म के नाम पर व्यभिचार में लिप्त रहने वाली इन देवदासियों की स्थिति

अपनी कारुणिकता में अधिक स्पंदिल इसलिए भी है कि उन्हें इस बात का हक हासिल नहीं कि वे किसके साथ प्रेम करें और किसके साथ नहीं , जबकि वेश्याएं इस बात में स्वतंत्र भी हो सकती हैं । इसमें लेखक ने देवदासी-प्रथा का विरोध स्पष्टतया किया है ।

सर्वदानन्द वर्मा कृत " संस्मरण " §1940§ अनमेल विवाह के दुष्परिणामस्वरूप भारतीय नारियों की अवदशा का यथार्थ चित्रण करता है । प्रस्तुत उपन्यास में भारतीय तथा पाश्चात्य नर-नारी संबंधों की चर्चा चलाते हुए लेखक यह प्रस्थापित करता है कि पाश्चात्य देशों में पति-पत्नी के सम्बन्धों में मित्रता के दर्शन होते हैं , जबकि हमारे यहाँ उनमें स्वामी और दास का सम्बन्ध है । लेखक के एक अन्य उपन्यास "नरमेध " §1941§ में भी अनमेल विवाह की समस्या चित्रित है । इस उपन्यास का देवेन्द्र कुछ प्रगतिशील विचारों का युवक है जो अपनी पत्नी को शिक्षिका के रूप में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करता है । देवेन्द्र मानता है कि स्त्री की गुलामी के मूल में उसकी आर्थिक परवशता भी एक कारण है ।

इन्द्र विद्यावाचस्पति कृत "जमींदार" §1942§ में जमींदारों के अत्याचारों का वर्णन प्राप्त होता है । लगान , देनदारी, उधार , दस्तूरी, तथा बेगारी में सदैव पिसते रहते कृषक समाज की कथा-व्यथा को लेखक ने हृदयस्पर्शी ढंग से प्रस्तुत किया है । उदयशंकर भट्ट के उपन्यास " वह जो मैंने देखा " में समाज में व्याप्त विकृतियों एवं विषमताओं को चित्रित किया गया है ।

रामचन्द्र तिवारी द्वारा लिखित उपन्यास " कमला" §1943§ में ग्रामीण-जीवन के सभी पक्षों को उद्घाटित किया गया है । इसमें साधन-हीन , भाग्यहीन ,अशिक्षित , असंगठित , अभावग्रस्त कृषक-समाज की त्रासद स्थितियों को उकेरा गया है ।

कंचनलता सब्बरवाल के "मूकप्रश्न" में § 1944§ में लेखिका ने यह प्रस्थापित करने का यत्न किया है कि शारीरिक सौन्दर्य की तुलना में मानसिक सौन्दर्य या चैतसिक सौन्दर्य ही श्रेष्ठ है । उपन्यास की नायिका सावित्री बाह्यतः सुन्दर न होते हुए भी अपनी आंतरिक सुन्दरता —माया, ममता , सेवा-भाव आदि - से अपने पति तथा परिवार के लोगों का दिल

जीत लेती है । इसके साथ ही उपन्यास में शोषित वर्ग की दयनीयता, पूंजीपतियों की स्वार्थपरता तथा तथाकथित सन्यासियों की कलुषित विलासिता आदि का भी यथेष्ट चित्रण हुआ है ।

"संघर्षों के बीच" §1944§ गंगाप्रसाद मिश्र का उपन्यास है, जिसमें उन्होंने निम्न मध्य-वर्ग की कथा को लिया है । आजकल औपन्यासिक लेखन के सन्दर्भ में `भोगे हुए यथार्थ` पर सविशेष बल दिया जाता है । लेखक का दावा है कि इस कसौटी पर परखने पर यह उपन्यास बिल्कुल खरा उतरेगा । इसमें कल्पना की सहायता बहुत ही थोड़ी, केवल रज्जू के रूप में, विभिन्न अवयवों को सम्बद्ध करने के लिए ही ली गयी है । इस उपन्यास की अधिकांश घटनाएं तथा पात्रों का आचरण तो ऐसा ही है जैसा हम अपने नित्य-प्रति के जीवन में घटित होते हुए देखते हैं ।[66]

ओंकार शरद कृत "अन्तिम बेला" §1945§ एक आंचलिक प्रकार की कथाकृति है, हालांकि "आंचलिक उपन्यास" जैसी कोई विधा तब तक हिन्दी में स्थापित नहीं हुई थी । इसमें उत्तर-प्रदेश के ग्रामीण अंचल के अनेक मनोरम चित्र उपस्थित हैं । ग्रामीण अंचल के खेत-खलिहान, नहर-पोखर, बाग-बगीचा, पशु-पक्षी, आबोहवा, रहन-सहन, वेशभूषा, किसान-जमींदार सम्बन्ध तथा संघर्ष, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध प्रभृति आंचलिक उपन्यास के कई आयाम इसमें उद्घाटित हुए हैं । इस दृष्टि से इस उपन्यास का एक ऐतिहासिक महत्त्व है ।

कुंवर कृष्णकुमारसिंह द्वारा प्रणीत "पीले पत्ते" §1946§ अन्तर्जातीय विवाह को लेकर लिखा गया है । उपन्यास का नायक अशोक जो एक कुलीन क्षत्रिय घराने का है, वह कुल-मर्यादा का सीमोल्लंघन करके नन्हकू चमार की बेटी केतकी से विवाह करता है । उसका मित्र असगर अछूत जाति की ही एक दूसरी कन्या मुनिया से विवाह करता है । उपन्यास का नायक अशोक एक प्रखर सुधारवादी युवक है ।~~xxxx~~ नागार्जुन के उपन्यास "उग्रतारा" के कामेश्वर की भांति वह भी विधवा-विवाह का प्रखर हिमायती है । अशोक के मतानुसार विधवा-विवाह की अस्वीकृति सती-प्रथा से भी अधिक कष्टदायक है । वह सोचता है -- "वह शुभ दिन कब आयेगा जब उस शारीरिक अग्निदाह की प्रथा से अत्यधिक भीषण

इस मानसिक अग्निदाह की प्रथा का नाश सदैव के लिए हो जायेगा ।"[67] अपनी बहन विमला के विधवा होने पर उसका भावुक आदर्श-प्रेमी मन विद्रोह व चित्कार कर उठता है — " क्या वह मिट्टी की है , हाड-मांस से निर्मित, प्राणों की धड़कन से उष्ण , सचेतन नारी नहीं ? क्या ठाकुर दलजीतसिंह उसके प्राणों का स्पंदन , उसके हृदय की धड़कन अपने साथ लेते गए ? "[68] इस प्रकार वह नहीं सहन कर सकता कि यह खोखला और हत्यारा समाज उसकी प्यारी बहन को मृत्यु-दण्ड अर्थात् वैधव्य-जीवन व्यतीत करने का फैसला सुनावे । अतः वह पक्का निर्णय करता है कि वह विमला से दो-टूक बात करके उसे पुनर्विवाह के लिए राजी और प्रेरित करेगा ।

बेनीप्रसाद वाजपेयी के उपन्यास " अब न कहना" (1946) में धर्म की आड़ में चलने वाले कुकर्मों का पर्दाफाश हुआ है । महन्त केशवानंद एक बुढ़िया से सांठ-गांठ करके गांव की जवान विधवाओं को फंसाता है । नीलकंठ शास्त्री की पतोहू मालती भी विधवा होने के उपरान्त केशवानंद के प्रबल चंगुल में फंसती है । वह केशवानंद को वैराग्य-मंदिर (?) बनाने के लिए दस हजार रूपये का दान भी देती है ।

प्रेमचन्दोत्तर-युग के एक सिद्धहस्त उपन्यासकार अमृतलाल नागर का " महाकाल" (1947) उपन्यास 1943 के बंगाल के प्रसिद्ध दुर्भिक्ष-महाकाल पर आधारित है । वह दुर्भिक्ष प्राकृतिक न होकर मानव-निर्मित था इसका संकेत पंडित जवाहरलाल नेहरू कृत डिसकवरी आफ इण्डिया" में भी मिलता है कि किस प्रकार तत्कालीन अंग्रेज शासकों ने पूंजीपतियों और जमींदारों से सांठगांठ करके चालीस लाख प्राणियों का वह नरमेध रचा था । कथावस्तु का केन्द्र बंगाल का एक छोटा-सा गांव मोहनपुर है । इस गांव की एंग्लो-बंगाली स्कूल में पांचू गोपाल हेडमास्टरी कर रहा है । समूचा गांव अकाल की चपेट में आ जाता है । मानवीय मूल्य धराशायी होने लगते हैं । पांचू की आदर्शवादिता भी जवाब दे देती है । वह स्कूल की बेंच को भी बेच खाता है । उसका भाई चावल के लिए अपनी पत्नी नुरुद्दीन को बेच आता है । इसमें नागरजी ने यह बताने की चेष्टा की है कि भूख न केवल मौत और पागलपन को जन्म देती है , बल्कि अनैतिकता को भी जन्म देती है । गुजराती के

~~कथाकार पन्नालाल पटेल~~

कथाकार पन्नालाल पटेल ने "मानवी नी भवाई " नामक उपन्यास में ऐसे ही एक दुर्भिक्ष का चित्रण किया है जिसमें एक पात्र द्वारा यह प्रबोधित हुआ है कि "मानवी भूंडो नथी , भूंडी छे भूख " अर्थात् मनुष्य बुरा नहीं है , बुरी तो वह भूख होती है । कहा भी गया है — " बुभुक्षितः किं न करोति पापम् " ।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि उल्लिखित काल-सीमा के उपन्यास प्रेमचन्द से प्रभावित हैं । उनमें तत्कालीन समाज की प्रायः सभी प्रकार की समस्याओं का आकलन हुआ है , और इसीलिए ये उपन्यास उस समय के जन-जीवन को समझने में ऐना का काम दे सकते हैं । साहित्य और समाज का परस्पराश्रित संबंध भी इससे उजागर होता है । आज जो हमारा समाज अनेक रूढ़ियों को पीछे छोड़ आया है , उसके मूल में इन उपन्यासों की यत्किंचित भी भूमिका को नकारा नहीं जा सकता । वस्तुतः परिवर्तन जो साहित्य द्वारा समाज में संक्रमित होता है , वह उतना मंद ,अलक्षित-सा , होता है कि प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर नहीं होता , परन्तु उसकी इस उपादेयता को हम कतई-कतई नकार नहीं सकते ।

अध्याय के अंत में निष्कर्षतया कुछ तथ्य रेखांकित किए जा सकते हैं । यथा —

§1§ औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप उत्पन्न जटिल सामाजिक ढांचे के समुपयुक्त आकलन के लिए एक नये काव्य-रूप की आवश्यकता हुई । उपन्यास के द्वारा उसकी पूर्ति हुई ।

§2§ यथार्थधर्मिता उपन्यासक का व्यावर्तक लक्षण ही नहीं , अपितु उसका प्राणतत्व है । आदर्शानुमोदित किसी गंतव्य तक पहुंचने के लिए भी यथार्थ की कर्दम भूमि से गुजरना पड़ता है ।

§3§ समाज और साहित्य का गहरा सम्बन्ध है । उपन्यास के सन्दर्भ में यह बात और भी मुकम्मिल सिद्ध होती है ।

§4§ हिन्दी के प्रथम उपन्यास "भाग्यवती" से समस्यामूलक उपन्यासों की एक धारा निरन्तर प्रवाहित रही है । बीच में थोड़े समय के लिए , खत्री और गहमरी के कारण , भले ही वह धारा क्षीण पड़ गयी हो । उसी क्षीण धारा को महानद में परिवर्तित करने का युगान्तकारी कार्य प्रेमचन्द

HANSA MEHTA LIBRARY
M. S. University of Baroda

द्वारा संपन्न हुआ । प्रेमचन्द ने न केवल "सेवासदन" के पाठकों का निर्माण किया , अथितु अपितु "चन्द्रकान्ता" तथा "तिलस्मेहोशरूबा" में पाठकों की अरूचि भी पैदा की । एक तरफ उन्होंने साहित्य के पाठकों की रूचिका परिष्कार किया , तो दूसरी तरफ साहित्य के निर्माताओं की एक समूची पीढ़ी को अपने हाथों से संवारा , सजाया तथा तराशा ।

§5§ हिन्दी को "गोदान" , "रंगभूमि" , "कर्मभूमि" तथा "प्रेमाश्रम" जैसी बहुआयामी रचनाएं प्राप्त हुईं । "कंकाल " भी इस युग की एक उपलब्धि है ।

§6§ प्रेमचन्दोत्तर काल में "नारी" , " चित्रलेखा " , § "टेढ़े-मेढ़े -रास्ते " , "दहेज " , "गिरती दीवारें " , "कमला" , "पीले पत्ते" , "महाकाल" जैसी उल्लेखनीय औपन्यासिक कृतियां प्राप्त होती हैं , यहां यह तथ्य ध्यातव्य है कि उक्त रचनाओं की बात उल्लिखित काल-सीमा के तहत , अर्थात् स्वाधीनता-प्राप्ति तक की रचनाओं के सन्दर्भ में हुई है ।

==== XXXXXX ======

:: सन्दर्भानुक्रम ::

§1§ " ओफ ओल इदस / लिटरेचर्स / डिविजन्स , नोवेल इज़ द मोस्ट कोम्पलेक्स फोर्म ।

§2§ " सन्व द नोवेलिस्ट्स प्रायमरी टास्क इज़ टु कन्वे द फिडेलिटी ओफ ह्युमन एक्सपीरिअन्स , द ऐसेम्प्टंश ओफ एनी प्रिस्टाब्लिश्ड फोर्म विल एनडेंजर हीज़ पाथ ओफ सक्सेस . " : ईवान वोट ।

§3§ डा० शिवदानसिंह चौहान : " एक पंखुड़ी की तेज़ धार" की समीक्षा : जनयुग : 6 फरवरी : 1966 ।

§4§ समीक्षायण : डा० पारूकांत देसाई : पृ. 129 । §5§ वही: पृ. 129 ।

§6§ "लिटरेचर एण्ड रीयालिटी " : हीवर्ड फास्ट : पृ. 17 ।

§7§ यथार्थवाद : डा० शिवकुमार मिश्र ।

§8§ आलोचना-~~78xx~~ - 76 : जनवरी-मार्च : 1986 : पृ. 28 ।

§9§ हिन्दी उपन्यासःसामाजिक चेतना : डा० कुंवरपालसिंह : पृ. 20-21 ।

§10§ "हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ " : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : पृ. 11 ।

§11§ " आ नोवेल इज़ इन इट्स ब्रोडेस्ट डेफीनीशन ए पर्सनल , ए डायरेक्ट इम्प्रेशन आफ लाईफ " : हेनरी जेम्स ।

§12§ थस द नोवेल केन बी डिसक्राईब्ड एज आ नेरेटिव इन प्रोज़ , बेज्ड ओन ए स्टोरी , इन व्हिच द ओथर मे पोर्ट्रे कैरेक्टर , एण्ड द लाईफ ओफ एन एज , एण्ड एनालाईज़ सेन्टिमेंट्स एण्ड पेसंसन्स , एण्ड द रीएकशन्स ओफ मेन एण्ड विमेन टु धेयर एनवायरोमेण्ट. " : आईफर इवान : ए शोर्ट हिस्टरी ओफ इंग्लिश लिटरेचर : पृ. 206 ।

§13§ द नोवेल इज़ नोअ मियरली ए फिक्शनल प्रोज़. इट इज़ ए प्रोज़ ओफ मेन्स लाईफ , द फर्स्ट आर्ट टु अटेम्प्ट , टु टेक द होल मेन एण्ड हीज एक्सप्रेशन्स. " : राल्फ फोक्स : द नोवेल एण्ड द पिपुल : 20.

§14§ आलोचना-76: जनवरी-मार्च-1986 : प्रस्तोता : डा० शिवकुमार मिश्र : पृ. 29 ।

§15§ "परीक्षागुरु" का प्रकाशन-वर्ष सन् 1882 है , इतना ही नहीं प्रत्युत "भाग्यवती" की समस्या भी "परीक्षागुरु" की तुलना में अधिक आधुनिक

है । विस्तार के लिए देखिए : " हिन्दी उपन्यास-साहित्य की परंपरा में साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास " : डा० पारूकांत देसाई ।

§16§ "उपन्यास" शब्द नाट्यशास्त्र से ग्रहण किया गया है । वहाँ प्रतिमुख संधि के एक उपभेद के रूप में इस शब्द का उल्लेख हुआ है , जिसके दो कार्य बताए गए हैं — " उपन्यासः प्रसादनम् " तथा " उपपत्ति कृतो ह्यर्थः उपन्यासः । " : समीक्षायण : पृ. 128 ।

§17§ " हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव " : डा० भारतभूषण अग्रवाल ।

§18§ " प्रेमचन्द और उनका युग " : डा० रामविलास शर्मा : पृ. 31 ।

§19§ " हिन्दी उपन्यास का अध्ययन " : डा० गणेशन : पृ. 58 ।

§20§ समीक्षायण : पृ. 139 । §21§ वही : पृ. 139 ।

§22§ " कलम का सिपाही " : अमृतराय : पृ. 651 ।

§23§ " युग निर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध " : डा० पारूकांत देसाई : : पृ. 27 ।

§24§ " हिन्दी उपन्यासःएक अंतर्यात्रा " : डा० रामदरश मिश्र : पृ. 44 ।

§25§ " युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध " : पृ. 15 ।

§26§ सेवासदन : प्रेमचन्द : पृ. 24 । §27§ वही : पृ. 34 ।

§28§ वही : पृ. 192 । §29§ वही:पृ. 177 §30§ वही:पृ. 128 ।

§31§ " हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन": डा० गणेशन : पृ. 68 ।

§32§ कलम का सिपाही : पृ. 385 ।

§33§ " प्रेमचन्द और उनका युग " : डा० रामविलास शर्मा : पृ. 28 ।

§34§ सेवासदन : पृ. 93 । §35§ रंगभूमि : पृ. 558 ।

§36§ हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डा. गणेशन : पृ. 68 ।

§37§ वही : पृ. 67 । §38§ कलम का सिपाहीः पृ. 652 ।

§39§ " युग निर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध " : डा. पारूकांत : पृ. 21

§40§ " आज का हिन्दी उपन्यास" : डा० इन्द्रनाथ मदान : पृ. 9-10 ।

§41§ " हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन " : डा. गणेशन:पृ. 69-70 ।

§42§ " हिन्दी उपन्यासःउपलब्धियाँ " : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय :पृ. 27 ।

§43§ गोदान : पृ. 57 ।

§44§ " युग निर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध " : डा. पारूकांतःपृ. 25 ।

§45§ " प्रेमचन्द और उनका युग " : डा. रामविलास शर्मा : पृ. 10 ।

§46§ " प्रेमचन्द और उनकी उपन्यास कला" :डा. रघुवरदयाल वार्ष्णेय:पृ.159 ।

§47§ " हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा " : पृ. 57 ।

§48§ देखिए : " काव्य के रूप " : बाबू गुलाबराय : पृ. 182-183 ।

§49§ " हिन्दी उपन्यास:एक अंतर्यात्रा" : पृ. 72 ।

§50§ मनुष्यानंद : उग्र : पृ. 68 ।

§51§ " हिन्दी उपन्यास:एक अंतर्यात्रा" :पृ. 66 ।

§52§ द्रष्टव्य : लेख : " हिन्दी उपन्यास का क्रमिक विकास" : ले. मक्खन-लाल शर्मा : " हिन्दी उपन्यास " : सं. सुषमा प्रियदर्शिनी:पृ.158 ।

§53§ "हिन्दी उपन्यास:एक अंतर्यात्रा" : पृ. 66-67 ।

§54§ वही: पृ. 67-68 ।

§55§ प्रस्तुत उपन्यास विधवा-समस्या पर आधारित है ।

§56§ इसमें समाज की नग्नता का खुलकर वर्णन किया गया है ।

§57§ इसमें पहाड़ी जीवन का चित्रण है ।

§58§ देखिए : संदर्भिका -13 ।

§59§वैशाली की नगरवधू : उत्तरार्द्ध : पृ. 896 ।

§60§ विचार और अनुभूतिः डा. नगेन्द्र : पृ. 134 ।

§61§ "हिन्दी उपन्यासः प्रेमचन्दोत्तरकाल " : डा. रामशोभितप्रसादसिंह : पृ. 60

§62§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 63 । §63§ द्रष्टव्य:वही:पृ. 140 ।

§64§ प्रतीक-9:शरद:पृ.126 । §65§xx

§65§ " हिन्दी उपन्यास के पदचिह्न" : सं. डा. मनमोहन सहगल:पृ.124-25 ।

§66§ संघर्षों के बीच : भूमिका से ।

§67§ पीले पत्ते : कुंवर कृष्णकुमारसिंह : पृ. 145 ।

§68§ वही : पृ. 115 ।

===== XXXX =====